कुछ

[कुछ निबन्धों का संग्रह]

लेखक

पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी, बी० ए०

विषय-सूची



कुछ

क्या लिखूँ ?

मुझे आज लिखना ही पड़ेगा। अँगरेजी के प्रसिद्ध निबन्ध-लेखक ए० जी० गार्डिनर का कथन है कि लिखने की एक विशेष मानसिक स्थिति होती है। उस समय मन में कुछ ऐसी उमंग-सी उठती है, हृदय में कुछ ऐसी स्फूर्ति-सी आती है, मस्तिष्क में कुछ ऐसा आवेग-सा उत्पन्न होता है कि लेख लिखना ही पड़ता है। उस समय विषय की चिन्ता नहीं रहती। कोई भी विषय हो, उसमें हम अपने हृदय के आवेग को भर ही देते हैं। हैट टाँगने के लिए कोई भी खूँटी काम दे सकती है। उसी तरह अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए कोई भी विषय उपयुक्त है। असली वस्तु है हैट, खूँटी नहीं। इसी तरह मन के भाव ही तो यथार्थ वस्तु हैं विषय नहीं। गार्डिनर साहब के इस कथन की यथार्थता में मुझे सन्देह नहीं; पर मेरे लिए कठिनता यह है कि मैंने उस मानसिक स्थिति का अनुभव ही नहीं किया है, जिसमें भाव अपने आप उत्थित हो जाते हैं। मुझे तो सोचना पड़ता है, चिन्ता करनी पड़ती है, परिश्रम करना पड़ता है, तब कहीं मैं एक निबन्ध लिख सकता हूँ। आज तो मुझे विशेष परिश्रम करना पड़ेगा, क्योंकि मुझे कोई साधारण निबन्ध नहीं लिखना है। आज मुझे नमिता और अमिता के लिए

आदर्श निबन्ध लिखना होगा। नमिता का आदेश है कि मैं 'दूर के ढोल सुहावने होते हैं' इस विषय पर लिखूँ। अमिता का आग्रह है कि मैं समाज-सुधार पर लिखूँ। ये दोनों ही विषय परीक्षा में आ चुके हैं, और इन दोनों पर आदर्श निबन्ध लिखकर मुझे इन दोनों को निबन्ध-रचना का रहस्य समझाना पड़ेगा।

दूर के ढोल सुहावने अवश्य होते हैं। पर क्या वे इतने सुहावने होते हैं कि उन पर पाँच पेज लिखे जा सकें? इसी प्रकार जिस समाज-सुधार की चर्चा अनादिकाल से लेकर आज तक होती आ रही है और जिसके सम्बन्ध में बड़े बड़े विद्वानों में भी विरोध है, उसको मैं पाँच पेजों में कैसे लिख दूँ? मैंने सोचा कि सबसे पहले निबन्ध-शास्त्र के आचार्यों की सम्मति जान लूँ। पहले यही तो समझ लूँ कि आदर्श निबन्ध है क्या और वह कैसे लिखा जाता है; तब फिर मैं विषय की चिन्ता करूँगा। इसी लिए मैंने निबन्ध-शास्त्र के बड़े आचार्यों की रचनाएँ देखीं। तक

समय नहीं है। मुझे तो यहीं बैठकर दो ही घंटों में दो निवन्ध तैयार कर देने होंगे। यहाँ न तो विश्वकोष है, और न कोई ऐसा ग्रन्थ जिसमें इन विषयों की सामग्री उपलब्ध हो सके। अब तो मुझे अपने ही ज्ञान पर विश्वास कर लिखना होगा।

विज्ञों का कथन है कि निवन्ध लिखने के पहले उसकी रूप-रेखा बना लेनी चाहिए। अतएव सबसे पहले मुझे 'दूर के ढोल सुहावने' की रूप-रेखा बनानी है। मैं सोच ही नहीं सकता कि इस विषय की कैसी रूप-रेखा है। निवन्ध लिख लेने के बाद में उसका सारांश कुछ ही वाक्यो में भले ही लिख दूँ, पर निवन्ध लिखने के पहले उसका सार दस-पाँच शब्दों मे कैसे लिखा जाय ? क्या सचमुच हिन्दी के सब विज्ञ लेखक पहले से अपने-अपने निवन्धो के लिए रूप-रेखा तैयार कर लेते हैं ? ए० जी० गार्डिनर को तो अपने लेखों का शीर्षक बनाने मे ही सबसे अधिक कठिनाई होती है। उन्होंने लिखा है कि मैं लेख लिखता हूँ और शीर्षक देने का भार मै अपने मित्र पर छोड़ देता हूँ। उन्होंने यह भी लिखा है कि शेक्सपीयर को भी नाटक लिखने मे जितनी कठिनता न हुई होगी उतनी कठिनता नाटको के नामकरण में हुई होगी। तभी तो घबड़ाकर नाम न रख सकने के कारण उन्होंने अपने एक नाटक का नाम रक्खा 'जैसा तुम चाहो'। इसलिए मुझसे तो यह रूप-रेखा तैयार न होगी। अब मुझे शैली निश्चित करनी है। आचार्य महोदय का कथन है कि भाषा मे प्रवाह होना चाहिए। इसके लिए वाक्य छोटे-छोटे हो, पर एक दूसरे से सम्बद्ध। यह तो विलकुल ठीक है। मैं छोटे-छोटे वाक्य अच्छी तरह लिख सकता हूँ। पर मै हूँ मास्टर। कहीं नमिता और अमिता यह न समझ बैठें कि मै यह निवन्ध वहुत मोटी अक्ल वालों के लिए लिख रहा हूँ। अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करने के लिए, अपना गौरव स्थापित करने के लिए यह

आवश्यक है कि वाक्य कम से कम आधे पृष्ठ में तो समाप्त हों। बाणभट्ट ने कादम्बरी में ऐसे ही वाक्य लिखे हैं। वाक्यों में कुछ अस्पष्टता भी चाहिए, क्योंकि यह अस्पष्टता या दुर्बोधता गम्भीरता ला देती है। इसी लिए संस्कृत के प्रसिद्ध कवि श्रीहर्ष ने जान-बूझकर अपने काव्य में ऐसी गुत्थियाँ डाल दी हैं जो आसानी से न सुलझ सकें और सेनापति ने भी अपनी कविता मूढ़ों के लिए दुर्बोध कर दी है। तभी तो अलङ्कारों, मुहावरों और लोकोक्तियों का समावेश भी निबन्धों के लिए आवश्यक बतलाया जाता है। अब क्या किया जाय?

न ज्ञान की गरिमा रहती है और न कल्पना की महिमा, जिसमें जीवन का गौरव भूलकर हम अपने में ही लीन हो जाते हैं, जिसमें हम संसार को अपनी ही दृष्टि से देखते हैं और अपने ही भाव से ग्रहण करते हैं। तब इसी पद्धति का अनुसरण कर मैं भी क्यों न निबन्ध लिखूँ। पर मुझे तो दो निबन्ध लिखने होंगे।

मुझे अमीर ख़ुसरो की एक कहानी याद आई। एक बार प्यास लगने पर वे एक कुएँ के पास पहुँचे। वहाँ चार औरतें पानी भर रही थीं। पानी माँगने पर पहले उनमें से एक ने खीर पर कविता सुनने की इच्छा प्रकट की, दूसरी ने चर्खे पर, तीसरी ने कुत्ते पर और चौथी ने ढोल पर। अमीर ख़ुसरो प्रतिभावान् थे, उन्होंने एक ही पद्य में चारों की इच्छाओं की पूर्ति कर दी। उन्होंने कहा—

खीर पकाई जतन से, चर्खा दिया चला ;
आया कुत्ता खा गया, तू बैठी ढोल बजा।

मुझमें ख़ुसरो की प्रतिभा नहीं है पर उनकी इस पद्धति को स्वीकार करने से मेरी कठिनाई आधी रह जाती है। मैं भी एक ही निबन्ध में इन दोनों विषयों का समावेश कर दूँगा, एक ही ढेले से दो चिड़ियाँ मार लूँगा।

दूर के ढोल सुहावने होते हैं, क्योंकि उनकी कर्कशता दूर तक नहीं पहुँचती। जब ढोल के पास बैठे हुए लोगों के कान के पर्दे फटते रहते हैं, तब दूर किसी नदी के तट पर, सन्ध्या समय, किसी दूसरे के कान में वही शब्द मधुरता का संचार कर देते हैं। ढोल के उन्हीं शब्दों को सुनकर वह अपने हृदय में किसी के विवाहोत्सव का चित्र अंकित कर लेता है। कोलाहल से पूर्ण घर के एक कोने में बैठी हुई किसी लज्जाशीला नववधू की कल्पना वह अपने मन में कर लेता है। उस नववधू के प्रेम, उल्लास, संकोच, आशङ्का और विषाद से युक्त हृदय के स्पन्दन, ढोल की

अतीत-गौरव के संरक्षक। इन्हीं दोनों के कारण वर्तमान सदैव क्षुब्ध रहता है और इसी से वर्तमान काल सदैव सुधारों का काल बना रहता है।

मनुष्य-जाति के इतिहास में कोई ऐसा काल ही नहीं हुआ जब सुधारों की आवश्यकता न हुई हो। तभी तो आज तक कितने ही सुधारक हो गये हैं। पर सुधारों का अन्त कब हुआ है? भारत के इतिहास में बुद्धदेव, महावीर स्वामी, नागार्जुन, शंकराचार्य, कबीर, नानक, राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द और महात्मा गाँधी में ही सुधारकों की गणना समाप्त नहीं होती। सुधारकों का दल नगर-नगर और गाँव-गाँव में होता है। यह सच है कि जीवन में नये-नये दोष उत्पन्न होते जाते हैं और नये नये सुधार होते जाते हैं। न दोषों का अन्त है और न सुधारों का। जो कभी सुधार थे वही आज दोष हो गये हैं और उन सुधारों का फिर नव सुधार किया जाता है। तभी तो यह जीवन प्रगतिशील माना गया है।

हिन्दी में भी प्रगतिशील साहित्य का निर्माण हो रहा है। उसके निर्माता यह समझ रहे हैं कि उनके साहित्य में भविष्य का गौरव निहित है। पर कुछ ही समय के बाद उनका यह साहित्य भी अतीत का स्मारक हो जायगा और आज जो तरुण हैं वही वृद्ध होकर अतीत के गौरव का स्वप्न देखेंगे। उनके स्थान में तरुणों का फिर दूसरा दल आ जायगा जो भविष्य का स्वप्न देखेगा। दोनों के ही स्वप्न सुखद होते हैं, क्योंकि दूर के ढोल सुहावने होते हैं।

रामलाल पण्डित

(१)

जाते थे। कितनी ही शंकाएँ होती थीं और उन शंकाओं का कितने ही प्रकार से समाधान होता था। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की चर्चा के साथ साथ कितनी ही स्थानीय घटनाओं पर विचार होता था, कितनी ही बातों की आलोचना की जाती थी और कितने ही लोगों की निन्दा स्तुति होती थी। आज वे सभी चर्चाएँ बन्द हो गई हैं। केवल मन्दिर ज्यों का त्यों खड़ा है और भगवान् की मूर्ति ज्यों-की-त्यों निर्विकार बनी हुई है।

(२)

उन्हीं रामलाल पण्डित से मेरा भी जीवन सम्बद्ध है। छात्रावस्था में फुटबाल खेलकर हम लोग उसी मन्दिर में जाया करते थे। वहीं हम लोग हाथ-मुँह धोते थे, वहीं पानी पीते थे, वहीं 'प्रसाद' पाते थे और वहीं कुछ देर बैठकर पण्डितजी से कविताएँ सुना करते थे। पण्डितजी कवि थे और काव्य प्रेमी भी। उनके जीवन का सबसे बड़ा काम अज्ञात कवियों की रचनाएँ संगृहीत करना था। अन्य कवियों की तरह उन्हें भी श्रोता पाकर बड़ी प्रसन्नता होती थी। सभी कवि प्रशंसा के इच्छुक होते हैं। यह उनकी दुर्बलता भले ही मानी जाय; पर दूसरों को तुष्ट करने के बाद उन्हें यदि प्रशंसा भी न मिले, तो वे किसके लिए इतना प्रयास करें? कहने के लिए तो यह कह दिया जाता है कि कविताएँ 'स्वान्त:सुखाय' लिखी जाती हैं; पर यदि यह बात सच होती, तो संसार में कविताओं की इतनी ऊँची राशि न रहती। गायकों की तरह कवियों को भी श्रोता मिलने से उत्साह बढ़ता है, उमङ्ग आती है और उल्लास होता है। यह सच है कि श्रोताजनों से प्रशंसा न पाने पर वे उत्साह-हीन नहीं होते। वे या तो श्रोताओं को अरसिक समझकर उन्हें

पुच्छ-विषाण-हीन साक्षात् पशु समझ लेते हैं या उनकी मूढ़ता और अज्ञता पर आश्चर्य प्रकट कर सन्तोष कर लेते हैं। किसी भी कवि की कविता की निन्दा करने के लिए साहस चाहिए। विज्ञ समालोचकों की बात दूसरी है; पर हम लोगों के समान साधारण जनों को तो यह दुस्साहस कभी नहीं होता। दुर्भाग्य-वश यदि किसी की रचना में हम लोगों ने अस्पष्टता, [illegible], क्लिष्टता, नीरसता या ऐसा ही कोई दोष समझ लिया, तो तुरन्त ही अज्ञों की पंक्ति में बैठना पड़ता है। इसी से अपने ही गौरव की रक्षा करने के लिए प्रशंसा करनी पड़ती है, न समझने पर भी सिर हिलाना पड़ता है। किन्तु [illegible] में यह [illegible] नहीं [illegible]। [illegible] एक निर्भीकता रहती है। [illegible]

[illegible]

सीता और लक्ष्मण को लेकर रामचन्द्रजी अपनी माता कौशल्या से बिदा माँगने के लिए गये। उस समय माता कौशल्या ने जो कहा, उसे एक कवि ने यों लिखा है :—

जनकदुलारी सुकुमारी है सकल अङ्ग,
मेरी नैनतारी नेक न्यारी मत कीजियो।
बन विकराल बाघ व्याल है कराल लाल,
बाल लछिमन काहू काल न पतीजियो॥
सीत घाम मेंह सों बचैयो देह कोमल ये,
जानि जिय नेह वेगि गेह सुधि लीजियो।
आते-जाते हाथन हमेस हित मान मेरे,
एरे प्रानप्यारे पूत पाती नित भेजियो॥

उस समय खड़ी बोली की कविताओं का आरम्भ हुआ था। पण्डितजी ब्रजभाषा के पक्षपाती थे। खड़ी बोली की कर्कशता उन्हें असह्य थी। पर मैं तो नवीनता का समर्थक था। काव्य-साहित्य का ज्ञान न होने पर भी मैं खड़ी बोली की कविताओं को किसी प्रकार हीन मानने के लिए तैयार न था। नवीनता की ओर सभी तरुणों का जो आग्रह होता है, वह मुझमें भी था। कुछ समय पहले छायावाद और मधुवाद के सम्बन्ध मे नवयुवको का जितना उत्साह था, उससे कम उत्साह मुझमे नहीं था। आजकल 'निराला' जी 'कुकुरमुत्ता' द्वारा नवयुवकों को जो 'शाक' दे रहे हैं, वही 'शाक' हम लोग शङ्करजी की कविताओं मे तब पाते थे। 'मिश्री मे बाँस की फाँस' की तरह उनकी रचनाओं मे मधुरता के साथ कठोरता का जो सम्मिश्रण था, उसने हम लोगों को मुग्ध कर लिया था। खड़ी बोली के उस प्रारम्भिक साहित्य में हम लोग भाषा की अकृत्रिमता के साथ भावों की सरलता

देखते थे। शङ्करजी की कविताओं में कितना वेग था, कितनी उद्दण्डता थी, कितनी शक्ति थी! अलङ्कारों को वे मानो खींचकर ले आते थे। भाषा उछलती-सी जान पड़ती थी। मैंने बड़े गर्व के साथ उनकी एक कविता पण्डितजी को सुनाई :—

> शङ्कर जो [illegible] की घोषणा सुनावेगा तो
>   नाग फट जायगी उर फट जायगा।
> 'शङ्कर' बनी की छवि कजली दिखावेगा तो
>   मेंड़ फट जायगी [illegible] छूट जायगा॥
> जंगल में दीपक सुराग सरसावेगा तो
>   [illegible] फट जायगी [illegible] फट जायगा।
> [illegible] की [illegible] बजावेगा तो
>   [illegible] फट जायगी प्रगाढ़ पेट जायगा॥

पण्डितजी कविता सुनकर [illegible] हो गये और फिर [illegible] नहीं है। [illegible] है, [illegible] की [illegible] है। [illegible] सुनाई। [illegible] हो गया, [illegible]

बोलिए तौ तब जब बोलिवे की सुधि होइ,
न तौ मुख मौन गहि चुप होइ रहिए।
जोरिए तौ तब जब जोरिवे की जानि परै,
तुक छन्द अरथ अनूप जामें लहिए॥
गाइए तौ तब जब गाइवे को कण्ठ होइ,
स्रौन के सुनत ही मन जाइ गहिए।
तुकभग छन्दभंग अरथ मिलै न कछु,
'सुन्दर' कहत ऐसी बानी मत कहिए॥

(३)

कालेज चले जाने के बाद मुझे पण्डितजी से मिलने का अवसर नहीं मिलता था। वहाँ मुझमे नई उमङ्ग आई, नई स्फूर्ति मिली। मैं स्वयं गद्य-पद्य में कितनी ही रचनाएँ करने लगा। दो-चार रचनाएँ मासिक पत्रों मे प्रकाशित भी हो गईं। तब मुझे यह विश्वास होने लगा कि मैं भी हिन्दी-साहित्य में कोई स्थायी वस्तु छोड़ जाऊँगा! तब तक हिन्दी-साहित्य का कुछ दूसरा ही रूप हो गया था। खड़ी बोली की कविताओं का स्वरूप बदल गया था। 'मधुप' ने उसमें अधिक माधुर्य ला दिया था। माइकेल मधुसूदन दत्त की कविताओं के अनुवादों ने खड़ी बोली की कविताओं में अधिक सरलता और नवीनता ला दी थी। विषय भी परिवर्तित हो गया था। पं० बदरीनाथ भट्ट की छोटी कविताओं ने तो हम लोगों को कविता का नया पथ दिखला दिया था! उनकी 'काला रंग', 'अवतार' और 'गंगा में दीपक' आदि कविताएँ कण्ठस्थ कर हम लोग उन्हें बार-बार दूसरों को सुनाते थे। 'प्रिय-प्रवास' के साथ उपाध्याय जी की कीर्ति चरम सीमा को पहुँच गई। गुप्तजी की लोक-प्रियता की तो उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही थी।

मैंने शिक्षा समाप्त की और फिर मैं मास्टर हुआ। पण्डितजी से भेंट होने पर उन्होंने अपना 'अनेक संग्रह' दिखलाया। वह बड़ी मोटी किताब थी। वेङ्कटेश्वर प्रेस ने उसका प्रकाशन किया था। उन्होंने यह भी कहा कि वे उसका दूसरा खण्ड तैयार कर रहे हैं। उस संग्रह में कितने ही कवियों के भजन, गीत, कवित्त, लावनी, पद आदि थे। इसके बाद उन्होंने मेरी भी रचनाएँ सुनने की इच्छा प्रकट की। मुझे उन्हें अपनी रचनाएँ सुनाने का साहस नहीं हुआ। तो भी उन्होंने मेरी बड़ी प्रशंसा की और कहा—'बाबू, कविता में एक विचित्र शक्ति है। कविता से चारों पदार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—प्राप्त होते हैं। अब तो समय बदल गया है; लोग कविता को एक खेल समझने लगे हैं। जिसके मन में जैसा आता है, वह वैसा ही लिख डालता है। अब अनुप्रास और यमक तो वह छूटा कहाँ, भाषा की वह कल-पना शक्ति कहाँ, वह ओज कहाँ, वह विलक्षणता कहाँ? अब तो कविता निराधार, निरलङ्कार हो गई है। जान पड़ता है कि कुछ दिनों के बाद छन्दोहीन होकर वह निरर्थक भी हो जायगी।'

पण्डितजी की ये बात सुनकर मन में क्षोभ तो अवश्य हुआ, क्योंकि उन दिनों के कवियों में मैं भी अपने को एक समझता था; पर पण्डितजी मेरी श्रद्धा के पात्र थे, इसी लिए अपना मन में [illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

कितने ही नये स्थानों को गया, कितने ही नये लोगों से परिचित हुआ, कितनी ही नई बातें देखीं और कितने ही नये अनुभव हुए। छात्रावस्था के सब स्वप्न विलीन हो गये। अवस्था के साथ विचार भी बदल गये। सेवा का उच्च आदर्श लुप्त हो गया। साहित्य में अक्षय कीर्ति छोड़ जाने की लालसा नष्ट हो गई। मुझे अपनी अक्षमता का ज्ञान हुआ। दूसरों को उपदेश देने का काम मैंने अवश्य किया; पर परोपदेश में पाण्डित्य प्रदर्शित करने में कोई कठिनता भी तो नहीं है। मैंने जैसे कितने ही छात्रों को पढ़ाया, वैसे ही हिन्दी के कितने ही उदीयमान लेखकों के लेखों का संशोधन कर उन्हें साहित्य-कला की शिक्षा भी दी। मैं स्वयं आख्यायिका लिखने की योग्यता नहीं रखता, तो भी मैंने कितने ही लेखकों को कथा का रहस्य समझाया है। सामयिक साहित्य में काम करनेवालों को यह अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है कि उनकी रचनाओं का कितना क्षणिक महत्त्व रहता है। भिन्न-भिन्न पत्रों में जो लेख, चरित्र, कथा, कविता, समालोचना आदि गद्य-पद्यात्मक रचनाएँ निकलती रहती हैं, उनके लेखकों को ही उनसे क्षणिक परितोष होता है। यह सच है कि उनसे अपना 'विज्ञापन' हो जाता है; पर यथार्थ में उनका कोई स्थायी महत्त्व नहीं रहता। साहित्य के इस क्षेत्र में एक आता है और दूसरा अपने आप उसका स्थान ले लेता है। किसी का भी स्थान रिक्त नहीं होता। कभी यह अनुभव ही नहीं होता कि अमुक लेखक के लेख न रहने से अमुक पत्र अब निष्प्राण हो गया है। पुराने लेखक हटते जाते हैं और नये लेखक पुराने होते जाते हैं। उन्हीं के साथ आदर्श बदलते हैं, शैली परिवर्त्तित होती है और विचार भी नये हो जाते हैं। रामचरित उपाध्याय, बदरीनाथ भट्ट, सनेही आदि के स्थान में पन्त, वर्मा आदि आये। मासिक पत्रों में अब पन्त और निराला पहले की तरह नहीं दिखलाई पड़ते। महादेवी वर्मा

और रामकुमार वर्मा के भी दर्शन नहीं होते। आत्याधिक लेखकों में हम और जैनेन्द्र भी कभी-कभी पत्रों में आते हैं वे प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके। अब उनकी रचनाओं में जो स्थायी गुण है, वही पाठकों को उनकी ओर आकृष्ट कर लेगा। जिन पुराने लेखकों की रचनाओं में ऐसा कोई सार नहीं है, उनके नाम तक हम लोग थोड़े ही दिनों में भूल जाते हैं।

दस वर्ष तक साहित्य-क्षेत्र में काम करने के बाद जब मैं फिर अपने गाँव लौटा, तब मैंने देखा कि वहाँ भी बड़ा परिवर्तन हो गया है। जो बूढ़े थे, वे चल बसे थे, जो युवा थे, वे बूढ़े हो गये थे; और जो बालक थे, वे युवा हो गये थे। पण्डितजी से अन्तिम बार भेंट हुई। उनका शरीर जरा-जीर्ण हो गया था। वाणी में वह शक्ति भी नहीं थी। मुझे देखकर उन्होंने प्रसन्नता प्रकट की। उन्होंने अपने '[illegible]' का दूसरा खण्ड भी दिखलाया। इसके बाद उन्होंने मुझसे कुछ आधुनिक कविता सुनाने का आग्रह किया। अब तक हिन्दी-साहित्य में बड़ा परिवर्तन हो गया था। [illegible] कविताएँ [illegible] की सामग्री हो गई थीं। [illegible] में निराला, पन्त और [illegible] की [illegible] [illegible] थीं। हिन्दी के सभी पुराने लेखक निस्तब्ध-से हो गये थे। मैंने [illegible] का '[illegible]' सुनाया। पण्डितजी [illegible] [illegible] [illegible] —

[illegible]

औरे भाँति विहग-समाज मे अवाज होत
ऐसो ऋतुराज के न आज दिन द्वै गयो।
औरे रस औरे रीति औरे राग औरे रङ्ग
औरे तन औरे मन औरे वन ह्वै गयो॥

वह मार्च का महीना था। पण्डितजी के इस कवित्त ने मेरे भी हृदय पर आघात किया। वही मधुमास है, वही श्री है, वही सौरभ है, वही उल्लास है, वही चिर-नवीन प्रकृति है, तो भी ऐसा जान पड़ता है कि सब कुछ बदल गया; क्योंकि मै स्वयं अब वह नहीं हूँ जो पहले था। उसी समय वसन्त-कालीन पवन का एक झोंका आया। तरुणों के हृदय मे उल्लास पैदा करनेवाली पवन के उस शीतल स्पर्श से मै काँप-सा उठा। तब मुझे ज्ञात हुआ कि अब मै भी वृद्ध हो चला हूँ।

——

चक्करदार चोरी

उस दिन बड़ी गर्मी थी। कितने वर्ष पहले की बात लिख रहा हूँ; फिर भी मुझे यह अच्छी तरह याद है कि उस दिन गर्मी थी। ग्रीष्म ऋतु के आरम्भ में गर्मी होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। तो भी मैं अन्य दिनों को छोड़कर आज उसी एक दिन की बात लिख रहा हूँ, क्योंकि उस दिन असिवा ने...।

पर कहानी आरम्भ करने से पहले मुझे प्रस्तावना के रूप में बहुत कुछ कहना है। बात यह है कि यह बिलकुल कहानी ही नहीं है। इसे यदि मैं चाहूँ, तो अपने जीवन की एक सच्ची घटना कह सकता हूँ, पर इसका यह अर्थ नहीं कि इसमें जो बातें हैं, वे सब सच हैं। सच पूछा जाय, तो न वहाँ कभी चक्करदार चोरी हुई और न वहाँ किसी बालिका ने मुझे अपने साथ लेकर उस चोरी का पता ही लगाया। फिर भी इस घटना को मैं अपने जीवन की एक घटना समझता हूँ क्योंकि बाह्य जगत् की घटना न होने पर भी वह मेरे अन्तर्जगत् की घटना है। संसार में जो घटनाएँ घटती हैं, वे ही एकमात्र सत्य नहीं हैं। मेरे लिए तो संसार की कोई घटना तभी सत्य होगी, जब उसका प्रभाव मेरे जीवन पर पड़ेगा। यदि यह बात नहीं है, तो कैसी भी असाधारण घटना क्यों न हो, मेरे लिए उसका कुछ भी महत्त्व नहीं है। उसी की सत्यता के लिए मैं व्यग्र नहीं हूँगा। पर जो मेरे मन की बात है, उसे यदि मैं झूठ कहूँ तो फिर सच किसे कहूँगा?

मैं अब ५२ साल का हो गया हूँ। भिन्न-भिन्न स्थानों में भटक फिरकर, भिन्न-भिन्न लोगों के साथ रहकर, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों का अतिक्रमण कर मैं अब अपने गाँव में मास्टर हो

गया हूँ। स्कूल में मास्टर होने के कारण अब मुझे केवल बालकों और बालिकाओं के बीच ही रहना पड़ता है। यहाँ आकर मैं एक ऐसी स्थिति का अनुभव करने लगा हूँ, मानो अब मेरे जीवन की गति ही अवरुद्ध हो गई है, मानो अब मुझे जीवन-पथ में अग्रसर ही नहीं होना है। स्कूल-मास्टर के जीवन में एक तो वैसे ही शान्ति रहती है, फिर खैरागढ़ एक ऐसी जगह है, जहाँ जीवन-संग्राम विकट नहीं है। सुख-दुःख, यश-अपयश, हानि-लाभ सभी को हम लोग यहाँ चुपचाप सह लेते हैं। यहाँ न तो भावों की प्रचण्डता है और न कर्मशक्ति की क्षिप्रता। जो विज्ञ लोग नगर के प्रचण्ड प्रवाह में पड़कर कर्मों के भीषण आवर्त्त और वेग का अनुभव कर चुके हैं, उन्हें इस ग्राम्य जीवन की मन्द गति से बड़ा आश्चर्य और खेद होता है। यह अवसाद, यह शिथिलता, यह अकर्मण्यता, यह नीरवता, यह सन्तोषयुक्त शान्ति उन्हें उद्विग्न कर देती है; पर मुझे इसी जीवन से एक आन्तरिक तृप्ति होती है। यह सच है कि छात्रों में भी कितने ही उद्दण्ड होते हैं, कितने ही उच्छृङ्खल होते हैं और कितने ही उत्पात करते हैं। उनके कारण मैं भी कभी क्षुब्ध होता हूँ, कभी क्रुद्ध होता हूँ और कभी उनकी भर्त्सना भी करता हूँ। पर यह अवस्था क्षणिक होती है। विद्या के इस व्यवसाय में मानसिक अशान्ति और उद्वेग के लिए स्थायी स्थान नहीं है। जहाँ बुरे लड़के होते हैं, वहाँ अच्छे लड़के भी तो होते हैं। यहीं मैंने विजय, बदरी, सूरज, गुलाब, कुसुम आदि को पढ़ाया है और आजकल अनूप, कृष्ण, नमिता, असिता और इन्दु को भी पढ़ा रहा हूँ। स्कूल का जीवन सदैव उल्लासमय ही रहता है। संसार की बड़ी-बड़ी घटनाएँ अन्य स्थानों को भले ही विक्षुब्ध कर दें; पर यहाँ तो उनसे जीवन में भाव की मृदु तरंगें ही उत्पन्न होती हैं। यहाँ महायुद्ध आतंक के स्थान में उत्साह और सेवा-भाव ही जाग्रत् करता है; दुर्भिक्ष का प्रकोप दया और सहानुभूति ही उत्पन्न

करता है। यहाँ जीवन का उत्ताप नहीं रहता; नैराश्य की वेदना नहीं रहती। यहाँ तरुणावस्था की उदारता, दृढ़ता और स्फूर्ति रहती है। यहाँ सांसारिकता से विरक्ति होती है और छद्म से घृणा। आशा के स्वप्न, उमंग के अधैर्य और भावों के वैपरीत्य के कारण छात्रों का संसार सदैव कौतुकावह होता है। छात्रों में मानसिक विकास के साथ भावों का जो परिवर्त्तन होता है, वह कम विलक्षण नहीं होता। जीवन की चंचल गति मैं इन छात्रों में ही तो देखता हूँ। तभी तो स्कूल में जीवन चिर-नवीन बना रहता है। एक आता है और दूसरा जाता है। कुसुम का स्थान इन्दु ने ले लिया और अब इन्दु का स्थान लीला लेगी; पर यहाँ छात्र-जीवन वही रहेगा। इसी से बाल्यावस्था से अत्यन्त दूर हट जाने पर भी मैं यहाँ बाल्यकाल का ही अनुभव करता हूँ, और यही सोचा करता हूँ कि यदि मैं भी फिर बालक हो जाता तो कितना अच्छा होता! तब देखता कि नमिता मुझे संस्कृत में किस तरह पछाड़ती और बदरी किस तरह मुझे हिन्दी में गिराता।

जो बात यथार्थ जगत् में सम्भव नहीं है वह बात कल्पना-जगत् में बिल्कुल सम्भव है। इसलिए मैंने अपने लिए एक कल्पना-जगत् का निर्माण कर लिया है। उसमें मैं मोहन बनकर असिता का अनुचर हो गया हूँ। बाल्यकाल में मेरी जो भावनाएँ थीं, उन सभी को मोहन में प्रकट कर मैंने उसमें अपना अस्तित्व लीन कर दिया है। यह सच है कि मेरे बाल्यकाल में न कोई असिता हुई और न कोई प्रभा; पर एक बार मोहन बन जाने पर इनकी सृष्टि में मुझे ज़रा भी प्रयास न करना पड़ा। यह सब मैंने कैसे किया, इसका कारण यह है कि मैं उपन्यासों का एक प्रेमी पाठक रहा हूँ। अभी तक मैंने कितने ही उपन्यास पढ़े हैं। जो उपन्यास मुझे अच्छे लगे, उनके पात्रों को मैंने अपना सहचर ही बना लिया। कथा का यथार्थ रस इसी में है कि हम उपन्यास के जगत् में उपन्यास के

पात्रों के साथ स्वयं यात्रा करते हैं। हिन्दी के आधुनिक साहित्य मे अब कितने ही कलाकार हो रहे हैं। उन्होने बड़े-बड़े कल्पना-पूर्ण उपन्यास लिखे हैं। बड़े-बड़े कला-विशारदो ने उन पर बड़ी-बड़ी विद्वत्तापूर्ण समालोचनाएँ भी लिखी हैं। उनमें कला का चाहे जितना चमत्कार हो; पर मुझको उनके जगत् से विरक्ति हो गई है। मै उनके साथ उसमे प्रविष्ट नहीं हो सका हूँ। इसी से कथा का यथार्थ रस मुझे तो उन कला-विशारदो की कृतियो में नहीं मिला है। वाजपेयीजी मुझे चाहे मध्यम श्रेणी का पाठक मानें या अधम श्रेणी का, पर यह बात सच है कि 'ककाल' मे मैंने भी कथा का रस नहीं पाया। वाजपेयीजी के कथन से यह प्रतीत होता है कि ऐसे उपन्यासो के लिए पाठकों की एक विशेष मानसिक स्थिति होनी चाहिए। मैं तो यह समझता हूँ कि भिन्न-भिन्न उपन्यासों के लिए भिन्न-भिन्न मानसिक स्थितियाँ होनी चाहिए। एक विशेष मानसिक स्थिति न रहने से न तो 'अलिफ-लैला' का रसोपभोग किया जा सकता है, न 'एलिस इन वंडरलैंड' और 'वाटर बेबीज़' आदि का यथार्थ रस लिया जा सकता है, और न 'कथासरित्सागर' और 'कादम्बरी' से ही आनन्द की उपलब्धि हो सकती है। पो और कोनन डायल की कहानियो के लिए भी एक विशेष रुचि चाहिए। यही नहीं, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं मे भिन्न-भिन्न उपन्यास विशेष रुचिकर होते हैं। पर यह भी ठीक है कि जो कथा का प्रेमी है, वह सभी स्थितियों और अवस्थाओ में अपने को रख-कर कथा-रस का आस्वादन कर लेता है। उसे कष्ट तभी होता है, जब कथा कथा का पथ छोड़कर समाज-शास्त्र, विज्ञान या इतिहास का स्थान ग्रहण कर लेती है।

कुछ समय से विज्ञो की यह प्रवृत्ति हो गई है कि वे उपन्यास को मनोविज्ञान की तरह पढ़ने लगे हैं। मनोविज्ञान के तथ्यों के लिए उनका इतना अधिक आग्रह हो गया है कि वे उन्हीं म

कला की सार्थकता समझते हैं। प्रसादजी की कृतियों की जो आलोचनाएँ मैंने पढ़ी हैं, उनमें ज्ञान की इतनी गुरुता है कि मैं उसके भार से दब जाता हूँ। प्रसादजी की रचनाएँ मैंने भी पढ़ी हैं। पर पहले मैं उन कथाओं और रचनाओं को निःशङ्क और निर्भय होकर पढ़ जाता था। अब यह बात नहीं है। अब तो उन्हें पढ़ने का साहस ही नहीं होता। मुझे अब पग-पग पर सन्देह होता है। मुझे अब ऐसा प्रतीत होता है कि शेक्सपियर के नाटकों की तरह प्रसादजी की रचनाएँ भी प्रसादजी को पीछे हटाकर बहुत आगे बढ़ गई हैं। अन्य कलाकारों के सम्बन्ध में भी ऐसे ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पढ़कर मैं तो विस्मय-मुग्ध हो जाता हूँ। स्वयं कहानी का लेखक हूँ नहीं; काम चलाने के लिए अँगरेजी कहानियों के भाव लेकर मैंने अपने समय में दस-पाँच कहानियाँ अवश्य लिख डाली हैं। इसी लिए मैं यह तो नहीं कह सकता कि कथालेखक अपनी कथा में मनोविज्ञान का विश्लेषण करते हैं, या अपने मन की बातें लिखते हैं; पर इसमें सन्देह नहीं कि आज कल भावों की जटिलता में पड़कर कितने ही कलाकार अपने यथार्थ उद्देश्य को भूल जाते हैं। अहंवृत्ति किसमें नहीं है? कौन अपनी दृष्टि से संसार को नहीं देखता? किसे अपने मनोभावों की शुचिता और अन्य के मनोभावों के कालुष्य पर सन्देह होता है? पर मनुष्यों की इस अहंवृत्ति में सत्य का सच्चा स्वरूप कहाँ है, यही देखना हमारा ध्येय होना चाहिए। विकृत अथवा विच्छिन्न मानसिक अवस्था का वर्णन ही यदि कथाकार का उद्देश्य है, तो बात दूसरी है। पर इसमें सन्देह नहीं कि अब आलोचकों की-सी विशुद्ध दृष्टि न रखकर उपन्यास का रसोपभोग करना अवश्य कठिन है।

अपने समान उपन्यास-प्रेमी के लिए मैं जिस गुण को अनिवार्य समझता हूँ, वह है उसकी कल्पनाशीलता। उपन्यास-लेखकों की

कल्पना में उनकी सृजन-शक्ति रहती है। पाठकों की कल्पना में उसे ग्रहण करने की शक्ति चाहिए। लेखक एक के बाद एक कल्पित 'चित्र उपस्थित करता जाता है और पाठक उन्हें अपनी कल्पना द्वारा प्रत्यक्ष देखता जाता है। उसे कौतूहल होता है, विस्मय होता है, और वह उसी में लीन हो जाता है। चित्रों की समाप्ति पर भी उसका मोह भग नहीं होता। वह लेखक के कल्पित संसार से इतना परिचित हो जाता है, मानो उसने सचमुच उस जगत् की यात्रा कर ली हो। जो लेखक मेरे हृदय में कल्पना का यह मोह-जगत् निर्मित नहीं कर सकते उनमें, मेरी समझ के अनुसार, कथा की कला नहीं है, अन्य चाहे जो गुण हो। इसी से प्रेमचन्दजी की कहानियों में मेरे लिए जो आकर्षण है, वह प्रसादजी की कहानियो में नहीं हैं। इतनी लम्बी प्रस्तावना लिखने का कारण पाठको को यह समझाना है कि मैं क्यों मोहन बना। अस्तु।

हाँ, तो उस दिन बड़ी गर्मी थी। मैं कमरे के एक कोने में बैठा था, प्रभा दूसरे कोने मे बैठी थी और असिता तीसरे कोने मे। सारे घर मे निःस्तब्धता थी। सहसा वह नि स्तब्धता भंग हुई—'यहाँ कुछ भी नहीं होता। यहाँ कुछ भी नहीं है।' यह कहकर असिता ने एक दीर्घ नि.श्वास लिया और फिर गहमरीजी के प्रसिद्ध उपन्यास 'चक्करदार चोरी' को, जिसे वह ९ बजे से पढ़ रही थी, मेज पर फेंक दिया। असिता की इस बात ने मुझे चौंका दिया। मै तब हनुमान-टेकरी पर तिलिस्म की बात सोच रहा था। मै असिता की बात का कुछ भी उत्तर न दे सका। प्रभा भी असिता की यह नैराश्य-विरक्ति-असन्तोषपूर्ण उक्ति सुनकर भूगोल पर अपनी दृष्टि स्थिर न रख सकी। उसने भी किताब बन्द कर कहा—'हाँ, दीदी, सचमुच यह स्थान बिलकुल अच्छा नहीं है। न तो सिनेमा....।'

प्रभा की बात काटकर असिता ने कहा—'सिनेमा न हो, तो न सही। सिनेमा देखना ही चाहूँगी, तो अभी मोटर में बैठकर डोंगरगढ़ और राजनांदगाँव जा सकती हूँ। पर यहाँ तो कोई घटना ही नहीं होती। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक वही एक तरह का जीवन रहता है। वही स्कूल, वही मास्टर, वही बकवास और वही सब कुछ। मैं तो बिल्कुल ऊब गई हूँ। कहीं भी जाओ, वही एक बात सुनो। यह स्थान ऐसा निश्चेष्ट, निष्क्रिय और निष्प्राण है कि कभी कोई बड़ी चोरी भी तो नहीं होती।'

'चोरी!'—प्रभा ने चकित होकर कहा—'चोरी-डकैती से क्या होगा, दीदी? और वैसे चोरी तो रोज ही होती है।'

असिता ने विरक्ति से कहा—'तुम कुछ नहीं समझतीं। लोटा-थाली या कटोरे की चोरी की बात नहीं कह रही हूँ। तो चाहती हूँ कि ऐसी चोरी हो, जिससे बड़े-बड़े जासूस चक्कर म पड़ जायँ। अभी मैंने एक ऐसी ही चक्करदार चोरी की कथा पढ़ी है। सवा लाख की चक्करदार चोरी हुई थी और उसका पता लगाया एक जासूस ने। युवावस्था के एक उन्माद ने, प्रेम की एक भूल ने, सभी लोगों से अलक्षित कैसा भयानक रूप धारण कर लिया और अन्त में वह किस प्रकार एक भयानक काण्ड में परिणत हो गया! कितनी रहस्यमय है यह कथा! एक क बाद एक आश्चर्यजनक घटनाएँ होती जाती हैं, और अन्त में चोर पकड़ा जाता है। यहाँ तो किसी ने ताला तोड़ा कि पकड़ लिया गया, और उसे छः महीने की सजा हो गई। न कोई आश्चर्य-जनक घटना होती है और न कोई रहस्यमय भेद ही खुलता है अगर कोई ऐसी ही विचित्र चोरी होती, तो ..' कहते-कहते असित रुक गई।

'तो क्या दीदी?'—प्रभा ने पूछा—'तो क्या होता?'

'तो मैं उसका पता लगाती!'—असिता ने कहा।

प्रभा ने असिता की यह बात सुन बड़े आश्चर्य से कहा—'तुम कैसे पता लगा लेतीं ? तुम तो अभी छोटी हो।'

असिता ने कहा—'मैं १४ साल की हूँ, तुमसे दो वर्ष बड़ी हूँ। छोटी तो तुम हो, तभी तो कहती हूँ कि तुम कुछ समझतीं नहीं। मैंने इतने दिनों तक क्या योंही गोविन्दराम की कथाएँ पढ़ी हैं। मैं सब समझ गई हूँ। मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि गोविन्दराम किस तरह अपराधियों को ढूँढ़ निकालते थे। क्यों मोहन, तुम क्या सोचते हो ?'

मोहन अर्थात् मैं असिता से अवस्था में बड़ा होने पर भी उसका अनुचर था। मुझे दु:ख यही था कि वह तिलिस्म और ऐयारों के अस्तित्व पर विश्वास ही नहीं करती थी, बल्कि उन्हें कल्पना-जगत् की मिथ्या बातें भी समझती थी। उसे तो यथार्थ जगत् की यथार्थ बातों से प्रेम था। मैं सोचता ही रह जाता था कि वह कमला बन किसी मायारानी की सभा में जाती और तब मैं भी चण्डूल बनकर वहाँ पहुँचता। पर ऐयारों के इस स्वाँग से उसे चिढ़ थी। वह तो गोविन्दराम की अनुगामिनी थी। वह संसार के रहस्यागार को तर्क के आलोक से स्पष्ट कर देना चाहती थी। वह वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा मनुष्य-जीवन को छिन्न-भिन्नकर उसका यथार्थ रूप देखना चाहती थी। वह मनोविज्ञान को समझकर संसार को अपराधियों से हीन करना चाहती थी। घर बैठे केवल देखकर ही वह अपनी बुद्धि द्वारा अन्तर्जगत् की सभी रहस्यमयी बातों का पता लगा लेना चाहती थी। इसी लिए मैंने कहा—'तुम ठीक कहती हो।'

'सुनो', असिता ने गम्भीर स्वर से कहा—'चोर अपने चेहरे को दाढ़ी और मूँछों से छिपाये रखते हैं। वे चश्मा भी लगाते हैं। वे लोग ऐसा क्यों करते हैं, क्या तुम बतला सकती हो ?

'नहीं दीदी, मैं तो नहीं जानती।'—प्रभा ने सिर हिलाकर कहा।

तब असिता कहने लगी—'बात यह है कि दाढ़ी-मूँछ मुँड़ा लेने और चश्मा निकाल देने पर उनका चेहरा ऐसा बदल जाता है कि होशियार लोग भी उन्हें नहीं पहचान पाते।'

प्रभा प्रतिवाद नहीं कर सकी। वह जानती थी कि असिता की बुद्धि तीक्ष्ण है। दसवें क्लास में वही फर्स्ट है। इसलिए असिता जो कुछ कह देती, वह चुपचाप स्वीकार कर लेती थी। जब दोनों इसी चिन्ता में मग्न थीं कि कब कोई ऐसी घटना हो, उसी समय वल्लभ दौड़कर आया और कहने लगा—'दीदी, दीदी, तुमने कुछ बात सुनी है? कल रात को एक बड़ी विलक्षण घटना हो गई, बड़ी विलक्षण!'

असिता ने कहा—'हाँ, समझ गई। तुमको मास्टर ने भूगोल में पास कर दिया होगा।'

वल्लभ ने कहा—'वाह, यह भी क्या कोई विलक्षण बात है? मैं क्या भूगोल में पास नहीं हो सकता था? अच्छा, तुम बताओ छोटी दीदी, क्या बात हुई है।'

प्रभा ने कहा—'अरूप और अनूप में लड़ाई हुई होगी।'

वल्लभ ने उत्तर दिया—'छि, ऐसा झगड़ा तो दोनों में रोज ही होता है। अब तुम ख़ूब सोचकर बताओ, दीदी! सचमुच बड़ी विचित्र बात है।'

असिता ने कहा—'कोई चक्करदार चोरी..'

वल्लभ ने ताली पीटकर कहा—'हाँ, ठीक जान लिया तुमने, दीदी! सचमुच चक्करदार चोरी ही हुई है। कप्तान साहब घबराये हुए हैं। किसी ने राजा साहब के कोट के सोने के बटन चुरा लिये हैं। महल से चोरी हुई है। १२ बटन थे और एक सोने की अँगूठी। न ताला टूटा, न चाबी गायब हुई और चोरी हो गई!'

असिता ने सुनकर कहा—'हाँ, चोरी तो ऐसे ही होती है। "चक्करदार चोरी" में भी ऐसी ही चोरी हुई है। खजान्ची पर सब शक करते होंगे।'

वल्लभ ने विस्मित होकर कहा—'तुमने कैसे जान लिया, दीदी? सब हरी बाबू पर शक कर रहे हैं। वह बेचारा बड़ा घबरा गया है।'

असिता ने निश्चयात्मक स्वर से कहा—'पर वह चोर नहीं है, वह कभी चोर नहीं हो सकता।'

वल्लभ ने बड़ी प्रसन्नता से कहा—'सचमुच वह चोर नहीं है। पुलिसवाले उसे व्यर्थ हैरान कर रहे हैं। उसका लड़का बड़ा अच्छा है। वह मेरे साथ पढ़ता है। उसको बुला लाऊँ, दीदी?'

असिता ने कहा—'अभी नहीं। अभी मैं इस घटना को अच्छी तरह सोच लूँ। इस चोरी में प्रेम का कैसा रहस्य-भेद होगा? अपनी किस प्रियतमा की किस इच्छा की पूर्ति के लिए किस चोर ने यह साहसपूर्ण काम किया है? अथवा किस लोभ या प्रतिहिंसा ने कपट का यह जाल रचा है? ये सभी बातें विचारणीय है।'

असिता चोरी की चिन्ता में डूब गई। मैं भी उसी की चिन्ता में लीन हो गया। प्रभा चुपचाप बैठी अपने भूगोल के चित्र देखने लगी और वल्लभ भी वहीं कुत्ते से खेलने लगा। उसी समय दो आदमी आकर सड़क पर खड़े हुए। एक के सिर पर पगड़ी थी। वह काफी ऊँचा था। बड़ी-बड़ी मूछें और दाढ़ी थी। आँखों पर चश्मा भी था। वह धीरे-धीरे दूसरे आदमी से कुछ बातें करने लगा। असिता को कुछ सन्देह-सा हुआ। वह चुपचाप आड़ में जाकर उनकी बातें सुनने लगी। वह आदमी कह रहा था—'आज रात को १० बजे उसी शिव-मंदिर में मैं आऊँगा। नोटों का हाल तो तुमने सुना होगा। पुलिस भी ताक में

है, इसलिए हम लोग चार ही वहाँ रहेंगे। दूसरों का काम नहीं है।' यह कहकर वह चला गया। दूसरा आदमी भी चला गया।

असिता के चेहरे पर प्रसन्नता की झलक आ गई। उसने तुरन्त ही पुकारा—'प्रभा, मोहन, दोनों आओ।' हम दोनों जाकर असिता के सामने खड़े हुए। असिता ने कहा—'मोहन, तुम्हारे पास टार्च है?'

मैंने कहा—'हाँ, मैंने उसे अपने ऐयारी के बटुवे में रक्खा है।'

मेरी बात सुनकर असिता ने कुछ विरक्त होकर कहा 'मुझे तुम्हारी ऐयारी से कोई मतलब नहीं है। अच्छा, अब यह बताओ कि तुम्हारे पास दो सीटियाँ हैं।'

मैंने कुछ खिन्न होकर कहा—'हाँ, हैं तो।'

असिता ने कहा—'सुनो, मैंने चोरों का पता लगा लिया है। आज हम तीनों रात को निकलेंगे। दो टार्च रक्खेंगे और सीटियाँ।'

प्रभा ने कहा—'हम रात को कितने बजे निकलेंगे? माँ जाने भी देंगी?'

असिता ने कहा—'माँ को कोई बात मालूम नहीं होनी चाहिए। वल्लभ भी अभी न जानने पावे। हम लोग सबके सो जाने पर रात को चुपचाप यहीं एकत्र होंगे और इसी रास्ते से चलेंगे।'

हम सबने यह निश्चय किया।

रात को निर्धारित समय पर असिता और प्रभा मुझको लेकर निकलीं। अँधेरी रात थी। मेरा हृदय धड़क रहा था; पर असिता निर्भय जा रही थी। कुछ ही देर में शिव-मन्दिर आ गया। असिता ने प्रभा और मुझको एक कोने में छिपाकर कहा—'मैं जब सीटी बजाऊँ तब तुम भी सीटी बजाना।' वह मन्दिर के पास पहुँच गई। वहाँ उसने खिड़की में से देखा कि एक कमरे में चार आदमी बैठे कुछ कर रहे हैं। रुपयों की खनखनाहट भी उसे सुनाई दी। तुरन्त ही नीचे आकर उसने सीटी बजाई। उसके

सीटी बजाते ही मैंने भी दूसरी ओर से सीटी बजा दी। इतने में चार आदमी तुरन्त ही कूदकर भागे। असिता ने उन पर टार्च से रोशनी फेंकी। तब तो वे और तेजी से भागने लगे।

इसके बाद असिता, प्रभा और मुझको लेकर, मन्दिर के भीतर घुसी। वहाँ हमने देखा कि सोलह कौड़ियाँ पड़ी हुई हैं और उनमें चार चित हैं। हम लोगों ने चार को आवाज़ भी सुनी थी। इन कौड़ियों का रहस्य मेरी समझ में न आया। मैं असिता की ओर देखने लगा। वह भी सोचने लगी कि इसका क्या मतलब है। सहसा उसकी दृष्टि मन्दिर की दीवार पर गई। उसमें कई छेद थे। असिता ने गिना आठ छेद थे। दूसरी दीवार पर भी आठ छेद थे। आठ और आठ सोलह हुए। कौड़ियों का गूढ़ अर्थ असिता ने समझ लिया। तब उसने चौथे छेद में टार्च की मदद से देखा। कुछ दबा-सा दिखाई पड़ा। उसने ईंट को हटाकर देखा, तो उसमें चमड़े का एक बैग दिखाई पड़ा। उसे खोलकर उसने देखा। उसी के भीतर सोने के बारह बटन थे और अँगूठी भी! मैं तो चकित होकर असिता की ओर देखने लगा।

फिर हम तीनों चुपचाप घर लौट आये।

सत्य अनन्त है, पर हमारा ज्ञान तो परिमित है। हम उससे जो पाते है, उसे सत्य न समझें तो और किसे समझें? संसार मे प्रेम की अनन्त घटनाएँ होती हैं। जीवन में अनेक संयोगान्त और वियोगान्त लीलाएँ होती हैं। यह तो संयोग की बात है कि किसी विशेष नायक के जीवन मे किसी विशेष समय में विशेष सुख दुख की परिस्थिति उत्पन्न करने के लिए कोई विशेष नायिका आ जाती है। 'श्रीकान्त' ने 'प्यारी' में जो सत्य पाया, अथवा 'शेखर' ने 'शशि' मे जो सत्य पाया, वही उनके लिए सत्य है। हमने भी कौड़ियों द्वारा संयोग से चोरी का जो पता लगा लिया, उसकी सत्यता मे हमें सन्देह नहीं था। दूसरे दिन हम

लोगों ने वल्लभ को सब बातें बतला दीं। विजय-गर्व से उल्लसित होकर हम सब कप्तान साहब की राह देखने लगे। कुछ देर बाद कप्तान साहब असिता के घर वकील साहब से बात करने आये। चोरी की भी चर्चा हुई। कप्तान साहब ने कहा—'कुछ पता नहीं चला। हम लोगो ने बड़ी कोशिश की।' असिता, प्रभा और वल्लभ तीनों वहीं खड़े सुन रहे थे। वल्लभ ने कहा—'कप्तान साहब, हम लोगो ने पता लगा लिया है। ये हैं आपके बटन और अँगूठी।'

सब देखकर दङ्ग रह गये। बहुत आश्वासन देने पर वल्लभ ने सारी घटना कह सुनाई। सब हँसने लगे।

पर अब असिता को जासूसी उपन्यास पढ़ने को नहीं दिये जाते हैं। वह अब शरद् बाबू और बंकिम बाबू के ही उपन्यास पढ़ा करती है। अब मुझे भी यह आशा नहीं है कि वह कभी कमलिनी या कमला हो सकेगी—आधुनिक उपन्यासो की रहस्य-मयी, प्रेमोन्मादिनी, भावुकता से युक्त नायिका वह भले ही हो जाय। पर उसी के साथ मेरी ऐयारी और बटुवे का भी अन्त हो गया। प्रेम की रश्मि से अनुरंजित इस नव-साहित्य में ऐयारों के साहसपूर्ण नैपुण्य के लिए स्थान नहीं है। उसमें 'वीरेन्द्र' का शौर्य और 'इन्द्रजीत' का पराक्रम दोनो व्यर्थ हैं। अब तो सुनीता और हरिप्रसन्न तथा शशि और शेखर का युग है। स्त्री और पुरुष की समस्या ने प्रेम और क्रान्ति की यह चक्करदार पहेली बना दी है कि मैं उसमें पड़ना ही नहीं चाहता। मेरे पास यथेष्ट दुःख और चिन्ताएँ हैं। उपन्यास-लेखकों के कल्पित पात्रों के कल्पित दुःख और कष्ट में पड़कर कौन अपनी वेदना को बढ़ाना चाहेगा?

उत्सव की महत्ता

उस दिन इन्दु के एक निबन्ध मे मैंने वर्षा ऋतु का इतना सुन्दर वर्णन पढ़ा कि मुझे तो उसी में कदम्ब-कुसुम का सौरभ प्राप्त हो गया। वर्षा के आगमन से सारी प्रकृति जो महोत्सव करती है, उसमें वह भी तो सम्मिलित है। इसलिए उसकी भाषा मे वही मधुरिमा है, उसके भाव मे वही उल्लास है। मुझमे और उसमें अवस्था का जो वैपरीत्य है, उसके कारण मेरी और उसकी दृष्टि मे भी बड़ा भेद है। हम लोग अपनी-अपनी दृष्टि से ससार को देख सकते है। उसके लिए वर्षा सुख, सौरभ, संगीत और नव-श्री लाती है; पर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि इसके शीतल समीर में किसी का वेदनापूर्ण नि.श्वास भी विलीन है। मेघों के इस गम्भीर गर्जन के साथ किसी की हाहाकार-ध्वनि भी उठी है। कौन नहीं जानता कि यहाँ तो हम वर्षा के उल्लास मे मग्न हैं और कहीं रण का ताण्डव-नृत्य हो रहा है। यहाँ प्रेम के प्रसून खिल रहे हैं और कहीं विद्वेष की चिताग्नि धधक रही है। ये तो दूर की बातें हुईं। हमारे समीप ही क्या हो रहा है, इसका हमें क्या ज्ञान है? कौन कह सकता है कि जब हम हँस रहे हैं, तब कोई रो नहीं रहा है? यह किसे ज्ञात है कि किसके हृदय में कैसी वेदना है? हम तो अपने ही आनन्द मे उन्मत्त रहते हैं। हम तो यही समझते हैं कि ससार हमारे लिए है। किसी को क्या पता कि किसकी किस बात से मुझे कितना दु:ख हुआ! मुझे भी क्या मालूम कि मेरे किस काम से किसको कितना कष्ट हुआ। आज मै सच बड़ी चिन्ता में पड़ा हुआ हूँ। मुझे मेघों की यह

श्याम घटा सुखद नहीं लगती। मुझे लोगों का यह आमोद-प्रमोद अच्छा नहीं लग रहा है। तो भी मन की व्यथा को मन में ही छिपाकर मैं सब लोगों से मिलता हूँ हँसता हूँ, बोलता हूँ और सभी काम करता हूँ। सुख-दुःख का यह प्रवाह तो चिरन्तन है। उसमें हम लोग बहते चले जा रहे हैं। अपने-अपने भावों की तरङ्गों में पड़कर हम लोग नाचते, थिरकते, डूबते-उतराते, चमकते-छिपते, टकराते और चक्कर खाते चले जा रहे हैं। अपने दुःख में हमें किसी अन्य के सुख की परवा नहीं होती। अपने उल्लास में हमें किसी अन्य के विषाद की सुधि नहीं रहती। अपनी स्वार्थ-सिद्धि में हमें दूसरों की हानि का चिन्ता नहीं रहती। अपने मान, गौरव और प्रतिष्ठा की वृद्धि में हमें दूसरों के अपमान और अप्रतिष्ठा का ध्यान नहीं रहता।

पर हम लोगों के निजी सुख-दुःख से किसी उत्सव की महत्ता नहीं नष्ट होती। वर्ष में अपने-अपने निर्दिष्ट दिन सभी उत्सव हर्ष और प्रमोद ही लेकर आते हैं। उस दिन मैंने देखा कि सब लोग रथ-यात्रा के उत्सव में ऐसे लीन हो गये थे, मानो उनको कोई चिन्ता या कष्ट ही नहीं। युद्ध का आतङ्क, दुर्भिक्ष का प्रकोप, अभाव का कष्ट सभी भूल गये थे। लोगों की बड़ी भीड़ थी। खूब कोलाहल हो रहा था! सब धक्के खा रहे थे। फिर भी सभी प्रसन्न थे। कुछ व्यर्थ बातें कर रहे थे, कुछ अकारण हँस रहे थे, कुछ अनावश्यक वस्तुएँ खरीद रहे थे और कुछ व्यर्थ घूम-घूमकर आनन्दित हो रहे थे। पर थे सभी प्रमुदित।

मनुष्य उत्सव-प्रिय होते हैं। उत्सवों का एकमात्र उद्देश्य आनन्द-प्राप्ति है। यह तो सभी जानते हैं कि मनुष्य अपनी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए आजीवन प्रयत्न करता रहता है। आवश्यकता की पूर्त्ति होने पर सभी को सुख होता है। पर उस सुख और उत्सव के इस आनन्द में बड़ा अन्तर है।

आवश्यकता अभाव सूचित करती है। उससे यह प्रकट होता है कि हममें किसी बात की कमी है। मनुष्य-जीवन ही ऐसा है कि वह किसी भी अवस्था में यह अनुभव नहीं कर सकता कि अब उसके लिए कोई भी आवश्यकता नहीं रह गई है। एक के बाद दूसरी वस्तु की चिन्ता उसे सताती ही रहती है। इसी लिए किसी एक आवश्यकता की पूर्ति हो जाने पर उसे जो सुख होता है, वह अत्यन्त क्षणिक होता है; क्योंकि तुरन्त ही दूसरी आवश्यकता उपस्थित हो जाती है। उत्सव में हम किसी बात की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते। यही नहीं, उस दिन हम अपने सारे काम-काज को छोड़कर विशुद्ध आनन्द की प्राप्ति करते हैं। यह आनन्द जीवन का आनन्द है, काम का नहीं। उस दिन हम अपनी सारी आवश्यकता को भूलकर केवल अपने मनुष्यत्व का ख़याल करते हैं। उस दिन हम अपनी स्वार्थ-चिन्ता छोड़ देते हैं, कर्त्तव्य-भार की उपेक्षा कर देते हैं, गौरव और सम्मान को भूल जाते हैं। उस दिन हममें उच्छृङ्खलता आ जाती है, स्वच्छन्दता आ जाती है। उस दिन हमारी दैनिक चर्या बिलकुल नष्ट हो जाती है। व्यर्थ घूमकर, व्यर्थ काम कर, व्यर्थ खा-पीकर हम लोग अपने मन में यह अनुभव करते हैं कि हम लोग सच्चा आनन्द पा रहे हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उत्सवों में हम सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर मुक्ति का आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं।

हिन्दू-समाज में विशुद्ध आनन्द की प्राप्ति के लिए वर्ष के अन्त में जो उत्सव रक्खा गया है, वह वसन्तोत्सव कहलाता है। वर्ष भर कर्त्तव्य के गुरु भार से आक्रान्त रहकर हम लोग वर्ष के अन्त तथा नव वर्ष के आरम्भ में विशुद्ध आनन्द पाने के लिए उत्सव मनाते हैं। उस समय प्रकृति के उल्लास के साथ हम भी अपने जीवन में उल्लास का अनुभव करते हैं। ऊँच-नीच का भेद

छोड़कर हम सब एक ही रङ्ग में, एक ही भाव में, रँग जाते हैं। प्रत्येक ऋतु के परिवर्त्तन के समय ऐसा ही उत्सव हम लोग मनाते हैं।

हिन्दू-उत्सवों की यह महत्ता है कि उनमें धर्म और जाति के उच्चतम आदर्शों का भी समावेश हो जाता है। ये उत्सव हमारे धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन के उच्चतम आदर्शों के स्मारक हो गये हैं। प्रत्येक उत्सव के साथ किसी न किसी आदर्श चरित्र का समावेश कर दिया गया है। वसन्तोत्सव में शिवजी के काम-दहन और श्रीकृष्णजी के पूतना-वध का लोग स्मरण करते हैं। आषाढ़ मे काल की दुर्निवार गति की स्मृति में जगन्नाथजी की रथ-यात्रा होती है। जीवन के अनन्त पथ पर असंख्य प्राणियों के बीच में भगवान् विचरण करते हैं। श्रावणी के रक्षाबन्धन द्वारा हिन्दू-समाज में भ्रातृत्व और धर्म-भार का स्मरण दिलाया जाता है। दीपावली में लक्ष्मी-पूजन के साथ नरकासुर के वध का स्मरण हम लोग करते हैं। इस तरह सभी उत्सवों मे धर्म और इतिहास बिलकुल मिल गये हैं। प्राचीन भारतीय सभ्यता का ऐसा कोई भी आदर्श नहीं है, जिसका स्मरण दिलाने के लिए वर्ष में एक दिन नहीं रक्खा गया है। इससे हमारे जातीय संस्कार बने रहते हैं। और लोग जहाँ उत्सव में आनन्द प्राप्त करते हैं, वहाँ हिन्दू आनन्द के साथ-साथ अपने जातीय गौरव का भी अनुभव करते हैं।

साधारणतः यह कहा जा सकता है कि लगातार परिश्रम करने के बाद हम लोगों में जो शिथिलता आ जाती है, जो एक अवसाद-सा छा जाता है, उसको दूर करने के लिए आमोद-प्रमोद की आवश्यकता सभी को पड़ती है, और इसी लिए उत्सव किये जाते हैं। ऐसे उत्सवों में हम शिथिलता को खोकर नई शक्ति पाते हैं। पर यह सभी अंशों मे ठीक नहीं है। हम लोगों का

प्राकृतिक जीवन ऐसा है कि शिथिलता या अवसाद आने पर प्रकृति ही निद्रा द्वारा हमारी सारी शिथिलता को दूर कर आप से आप हमारे शरीर में नई शक्ति ला देती है। उसके लिए उत्सवों की आवश्यकता नहीं है। उत्सव का उद्देश्य सामाजिक जीवन में एकमात्र विशुद्ध आनन्द प्राप्त करना है। उस उत्सव का सम्बन्ध व्यक्ति से नहीं, समाज, जाति और राष्ट्र से है। उस दिन हम लोग आमोद-प्रमोद में अवश्य लीन हो जाते हैं, पर उससे शारीरिक शिथिलता घटती नहीं, बल्कि बढ़ जाती है। फिर भी उन उत्सवों द्वारा हम जो आनन्द प्राप्त करते हैं, वह हमारे जीवन को पूर्ण बना देता है। उस दिन अपने सारे अभाव, सारी आवश्यकता, सारी चिन्ता को छोड़ हम अपने जीवन की पूर्णता का अनुभव कर आनन्द में लीन हो जाते हैं। जगन्नाथजी की रथ-यात्रा के साथ हमारे जीवन का जो कर्म-चक्र प्रवर्त्तित होता है उसका कोई अन्त नहीं है। उसकी गति कभी अवरुद्ध नहीं होती है। उत्थान-पतन उसके लिए एक साधारण नियम है। कभी वह ऊपर आता है और कभी नीचे जाता है। पर उसके द्वारा जगन्नाथजी का रथ अग्रसर ही होता है। क्या व्यक्ति, क्या समाज और क्या राष्ट्र—सभी के उत्थान-पतन होते हैं। फिर भी जीवन का तो सदैव विकास ही होता है। एक ओर संहार होता है और दूसरी ओर निर्माण भी होता है। भगवान् की रथ-यात्रा में इस विश्व का कल्याण ही निहित है। इसी लिए हम अपने क्षुद्र दु:खों को भूलकर, अपनी दैन्यावस्था का तिरस्कार कर उस महोत्सव में सम्मिलित होते हैं।

एक पुरानी कथा

आज एक पुरानी कथा कहता हूँ। एक था मछुआ, एक थी मछुवी। दोनों किसी झाड़ के नीचे एक टूटी-फूटी झोपड़ी में अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। मछुवा दिन भर मछलियाँ पकड़ता, मछुवी दिन भर दूसरा काम करती। तब कहीं रात में वे लोग खाने के लिए पाते। ग्रीष्म हो या वर्षा, शरद् हो या वसन्त, उनके लिए वही एक काम था, वही एक चिन्ता थी। वे भविष्य की बात नहीं सोचते थे, क्योंकि वर्त्तमान में ही वे व्यस्त रहते थे। उन्हें न आशा थी और न कोई लालसा।

पर एक दिन एक घटना हो गई। मछुवा जा रहा था मछलियाँ पकड़ने। नदी के पास एक छोटा-सा गड्ढा था। उसमें कुछ पानी भरा था। उसी में एक कोने पर, लताओं में, एक छोटी-सी मछली फँस गई थी। वह स्वयं किसी तरह पानी में नहीं जा सकती थी। उसने मछुवे को देखा और पुकारकर कहा—'मछुवे, मछुवे, जरा इधर तो आ।'

मछुवा उसके पास जाकर बोला—'क्या है?'

मछली ने कहा—'मैं छोटी मछली हूँ। अभी तैरना अच्छी तरह नहीं जानती। इसी से यहाँ आकर फँस गई हूँ। मुझको किसी तरह यहाँ से निकालकर पानी तक पहुँचा दे।'

मछुवे ने नीचे उतरकर लता से उसको अलग कर दिया। मछली हँसती हुई पानी में तैरने लगी।

कुछ दिनों के बाद उस मछली ने उसे फिर पुकारा—'मछुवे, मछुवे इधर तो आ।' मछुवा उसके पास गया। मछली ने

कहा—'सुनती हूँ, नदी में ख़ूब पानी है। मुझे नदी में पहुँचा दे। मैं तो तेरी तरह चल नहीं सकती। तू कोई ऐसा उपाय कर कि मैं नदी तक पहुँच जाऊँ।'

'यह कौन बड़ी बात है।' मछुवे ने यह कहकर एक बर्त्तन निकाला और उसमें ख़ूब पानी भर दिया। फिर उसने उसी में उस मछली को रखकर नदी तक पहुँचा दिया। मछली नदी मे सुरक्षित पहुँच गई और आनन्द से तैरने लगी।

कुछ दिनो के बाद उस मछली ने मछुवे को पुकारकर कहा—'मछुवे, तू रोज़ यहाँ आकर एक घण्टा बैठा कर। तेरे आने से मेरा मन बहल जाता है।'

मछुवे ने कहा—'अच्छा।'

उस दिन से वह रोज़ वहीं जाकर आध घण्टा बैठा करता। कभी-कभी वह आटे की गोलियाँ बनाकर ले जाता। मछली उन्हें खाकर उस पर और भी प्रसन्न होती।

एक दिन मछुवी ने पूछा—'तुम रोज़ उसी एक घाट पर क्यों जाते हो?'

मछुवे ने उसको उस छोटी मछली की कथा सुनाई। मछुवी सुनकर चकित हो गई। उसने मछुवे से कहा—'तुम बड़े निर्बुद्धि हो! वह क्या साधारण मछली है! वह तो कोई देवी होगी, मछली के रूप में रहती है। जाओ, उससे कुछ माँगो। वह जरूर तुम्हारी इच्छा पूरी करेगी।'

मछुवा नदी के तट पर पहुँचा। उसने मछली को पुकारकर कहा—'मछली, मछली, इधर तो आ।'

मछली आ गई। उसने पूछा—'क्या है?'

मछुवे ने कहा—'हम लोगों के लिए क्या तू एक अच्छा घर नही बनवा देगी?'

मछली—'अच्छा जा, तेरे लिए एक घर बन गया। तेरी मछुवी घर में बैठी है।'

मछुवे ने आकर देखा कि सचमुच उसका एक अच्छा घर बन गया है। कुछ दिनों के बाद मछुवी ने कहा—'सिर्फ घर होने से क्या हुआ? खाने-पीने की तो तकलीफ है। जा, मछली से कुछ धन माँग।'

मछुवा फिर नदी-तट पर गया। उसने मछली को पुकारकर कहा—'मछली, मछली, इधर तो आ।'

मछली ने आकर पूछा—'क्या है?'

मछुवे ने कहा—'सुन तो, क्या तू हमे कुछ धन न देगी?'

मछली ने कहा—'अच्छा जा, तेरे घर में धन हो गया।'

मछुवे ने आकर देखा कि सचमुच उसके घर में धन हो गया है। कुछ दिनों के बाद मछुवी ने कहा—'इतने धन से क्या होगा? हमें तो राजकीय वैभव चाहिए। राजा की तरह एक महल हो, उसमें बाग हो, नौकर-चाकर हों और राजकीय शक्ति हो। जा, मछली से यही माँग।'

मछुवी की यह बात सुनकर मछुवा कुछ हिचकिचाया। उसने कहा—'जो है, वही बहुत है।' परन्तु मछुवी ने उसकी बात न सुनी। उसने स्वयं मछली की दिव्य शक्ति देख ली थी। यही नहीं, एक बार जब वह मछली को आटे की गोलियाँ खिला रही थी, तब मछली से उसे आश्वासन भी मिल गया था। इसी से उसने मछुवे को हठपूर्वक भेजा।

मछुवा कुछ डरता हुआ मछली के पास पहुँचा। उसने मछली को पुकारा और धीरे से कहा—'क्या तू मछुवी को रानी न बना देगी?'

मछली ने कहा—'अच्छा जा, तेरी मछुवी रानी बनकर महल में अभी घूम रही है।'

मछुवे ने आकर देखा कि सचमुच उसके घर में राजकीय वैभव हो गया है। उसकी मछुवी रानी होकर बैठी है।

कुछ दिनों के बाद मछुवी ने फिर कहा—'अगर सूर्य, चन्द्र, मेघ आदि सभी मेरी आज्ञा मानते तो कैसा होता!' यह सोचकर उसने मछुवे को, उसकी इच्छा के विरुद्ध, मछली के पास भेजा।

मछुवे की बात सुनकर मछली रुष्ट होकर बोली—'जा, जा, अपनी उसी झोपड़ी में रह।'

मछुवा और मछुवी दोनों फिर अपनी उसी टूटी-फूटी झोंपड़ी में रहने लगे। यहीं कहानी का अन्त हो जाता है।

कहानी पुरानी है और घटना भी झूठी है। इसकी एक भी बात सच नहीं है, पर इसमें हम लोगों के मनोरथों की सच्ची कथा है। आकांक्षाओं का कब अन्त हुआ है? इच्छाओं की क्या कोई सीमा है? पर मछुवे के भाग्य-परिवर्त्तन पर कौन उसके साथ सहानुभूति प्रकट करेगा? सभी यह कहेंगे कि यह तो उसका ही दोष था। उसकी स्त्री को सन्तोष ही नहीं था। यदि उसे सन्तोष हो जाता तो उसकी यह दुर्गति क्यों होती? मछुवे ने भी शायद यही कहकर अपनी स्त्री को झिड़का होगा। परन्तु मैं स्त्री को निर्दोष समझता हूँ। मेरी समझ मे दोष मछली का ही है। यदि वह पहले ही मछुवे को कह देती कि मुझमें सब कुछ करने की शक्ति नहीं है तो मछुवे की स्त्री उससे ऐसी याचना ही क्यों करती? यदि मछुवे की स्त्री मे सन्तोष ही रहता, तो वह पहली ही बार अपने पति को माँगने के लिए क्यों कहती? मछली ने पहले तो अपने वरदानों से यह बात प्रकट कर दी कि मानो वह सब कुछ कर सकती है। किन्तु जब मछुवे की स्त्री ने कुछ ऐसी याचना की, जो उसकी शक्ति के बाहर थी, तब वह एकदम क्रुद्ध होकर अभिशाप ही दे बैठी! उसने मछुवे के उप-

कार का भी विचार नहीं किया। वह यह भूल गई कि मछुवे ने यदि उस समय उस पर दया न की होती, तो शायद उसका अस्तित्व ही न रहता। उसने मछुवे से यह क्यों नहीं कहा—'जा भैया, मैं तेरे लिए बहुत कर चुकी। अब मैं कुछ नहीं कर सकती। अपनी रानी को समझा देना।'

हम सभी लोग अपने जीवन में यही भूल करते हैं। हम लोग अपने दोषों को छिपाकर दूसरों पर ही दोषारोपण करते हैं। हम दूसरों के कामों को महत्ता न देकर अपने ही कामों को महत्त्व देते हैं। हम यह तो निस्सङ्कोच कहते हैं कि हमने किसी पर यह उपकार किया; पर हम यह नहीं बतलाते कि उसने हमारी क्या सेवा की, उससे हमें क्या लाभ हुआ। सच तो यह है कि उपकार और सेवा एक बात है और यह लेन देन कुछ दूसरी बात है।

मछुवे की स्त्री ने जो कुछ किया, वह ठीक ही किया था। सभी लोग जानते हैं कि जब तक कोई वस्तु अप्राप्य रहती है, तभी तक उसके लिए बड़ी व्यग्रता रहती है। ज्योंही वह प्राप्त हो जाती है त्योंही हमें उससे विरक्ति हो जाती है, और हम किसी दूसरी वस्तु के लिए व्यग्र हो जाते हैं। हिन्दी की प्रेम-कथाओं में उन्हीं नायिकाओं के लिए नायकों को व्यग्रता रहती है जिन पर उनका कोई अधिकार नहीं है। उस दिन मैंने एक प्रेमी का प्रेम-पत्र पढ़ा। उसमें विकलता थी। यदि प्रियतमा से उसकी भेंट हो जाती तो थोड़े दिनों के बाद उसे किसी दूसरी के लिए वही व्यग्रता होती।

जो बात प्रेम के लिए कही गई है वही गौरव, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य आदि सभी बातों के लिए भी कही जा सकती है। अतएव मछुवे की स्त्री ने जो कुछ किया, वह मनुष्य-स्वभाव के अनुकूल किया परन्तु मछली ने जो कुछ किया, वह अपने दैवी-स्वभाव के

विरुद्ध किया। उसे तो मछुवे पर दया करनी चाहिए थी। उसे उसके उपकार को न भूलना था। राजा बनाने के बाद उसे एकदम भिक्षुक बना देना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। यदि मैं मछुवा होता तो उससे कहता—देवी, मैंने तुम्हे जब जल में छोड़ा था तब मैंने यह नहीं सोचा था कि तुम मुझे राजा बनाओगी। मैंने तो वह काम निःस्वार्थ-भाव से ही किया था। अपनी स्त्री के कहने से तुमको देवी समझकर मैंने याचना की। तुमने भी याचना स्वीकृत की। पर तुमने क्या मेरी स्त्री के हृदय में अभिलाषा नहीं पैदा कर दी? क्या तुमने उसके मन में यह आशा नहीं ला दी कि तुम उसके लिए सब कुछ कर सकती हो? वह तो पहले अपनी स्थिति से सन्तुष्ट थी। तुम्हारे ही कारण उसके मन में और कई अभिलाषाएँ उत्पन्न हुईं। तुमने उनको भी पूर्ण किया। उसे तुम्हारी शक्ति पर विश्वास हो गया, तभी तो उसने ऐसी इच्छा प्रकट कर दी, जो तुम्हारे लिए असम्भव थी। तुमने जो कुछ दिया था उस सबको, इसी एक अपराध के कारण, कैसे ले लिया? तुम्हारे वरदान का अन्त अभिशाप में कैसे परिणत हो गया? तुम्हें मेरी और मेरी स्त्री की स्थिति पर विचार कर काम करना चाहिए था। तुम भले ही देवी हो; पर तुममे त्याग नहीं है, प्रेम नहीं है, उपकार की भावना नहीं है, क्षमा नहीं है, दया नहीं है।

समाज-सेवा

उस दिन मैं लक्ष्मण की दुकान पर बैठकर अपनी ही चिन्ताओं में लीन था। उस समय दो सज्जन चाय पीने के लिए आये। कुर्सी पर बैठने के बाद एक ने दूसरे से कहा—'तुमने सुना होगा कि कल रात को बाबू गप्पूराम की मृत्यु हो गई।' दूसरे ने कहा—'हाँ, बेचारे को बड़ा कष्ट था। अच्छा हुआ, जो मृत्यु हो गई। एक महीने से वह उठ-बैठ तक नहीं सकता था। उसे तो नरक की यन्त्रणा भोगनी पड़ती थी।' तब पहले व्यक्ति ने कहा—'तभी तो मैं कहता हूँ, भाई, मृत्यु के समय पापियों की स्थिति छिपी नहीं रहती।' इस पर दूसरे ने कुछ चकित होकर कहा—'यह क्या कहते हो? बाबू गप्पूराम तो बड़े सज्जन थे। उनकी तो मैंने बड़ी कीर्ति सुनी है।' पहले ने कुछ अवज्ञा के साथ हँसकर कहा—'किस धनवान् की कीर्ति उसके जीवन-काल में तुमने नहीं सुनी है? अरे भैया, मृत्यु ही भले-बुरे का निर्णय कर देती है। खैर, जाने दो, वह तो अब मर गया। मैं क्यों उसके गुप्त पापों की कथा कहूँ। अब तो धर्मराज ही उसका निर्णय करते होंगे।'

चाय पीकर वे दोनों चले गये। पर उनकी बातों का प्रभाव मुझ पर पड़ा। मैं अपनी स्वार्थ-चिन्ता क्षण भर के लिए भूल गया। मैं बाबू गप्पूराम से खूब परिचित था। जीवन भर उनकी स्थिति अच्छी रही। उन्होंने यथेष्ट कमाया और यथेष्ट

खर्च किया। नगर मे उनकी प्रतिष्ठा थी। सभी उनका आदर करते थे। पर आज उनकी मृत्यु के कुछ ही घंटों बाद लोग उनके सम्बन्ध में कितनी अवज्ञा प्रकट कर रहे हैं। यह सच है कि अब संसार के यश-अपयश और निन्दा-स्तुति से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं था, तो भी निःसन्देह यह ज्ञात नहीं होता कि उनके जीवन की सार्थकता किसमें थी।

संसार में दैन्य है, दुःख है, कष्ट है, अज्ञान है; इसके साथ ही सम्पत्ति है, भोग-विलास है, ज्ञान है। हम लोग अर्थ-सिद्धि में ही जीवन की सफलता समझते है। यही कारण है कि जिसने सम्पत्ति संचित कर ली, वह आदर का पात्र हो जाता है; पर हृदय मे हम लोग यही अनुभव करते है कि सेवा ही आदरणीय है। तभी तो धनवानों की प्रशंसा मे ही हम लोग उनकी देश-सेवा, समाज-सेवा, जाति-सेवा, साहित्य-सेवा आदि का उल्लेख करते हैं। मृत्यु के बाद हम किसी के धन और पद-गौरव का विचार ही नहीं करते। इसी से आज मैं समाज-सेवा की ही बात सोच रहा हूँ।

मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो अकेला नहीं रह सकता। उसे अपनी रक्षा के लिए समाज का संगठन करना ही पड़ता है। यों तो और भी कई प्राणी है, जो अपना एक दल बनाकर रहा करते है; परन्तु उन प्राणियो के दल और मनुष्यो के समाज में यह भेद है कि मनुष्यो ने अपनी बुद्धि द्वारा अपने सामाजिक जीवन का निरन्तर विकास ही किया है। देश, काल और अवस्था के अनुकूल उन्होने अपने समाज में यथेष्ट परिवर्त्तन किये हैं और ऐसे परिवर्त्तन होते भी जा रहे हैं। इसी से मनुष्य-समाज उन्नतिशील है और अन्य प्राणियों का दल सैकड़ों वर्षों के बाद भी अपनी स्थिति में कोई विशेष उन्नति या परिवर्त्तन नहीं कर सका। अपनी उन्नति के लिए एक साथ मिलकर काम

करने की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर जो दल बनाया जाता है उसी को हम समाज कहते हैं।

समाज के भीतर एक समता का भाव रहना ही आवश्यक है। जहाँ समता का अभाव है, वहाँ समाज में दृढ़ता भी नहीं है, क्योंकि किसी प्रकार की असमानता के आने पर, भेद-भाव होने पर, पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष आदि भाव अवश्य पैदा होते हैं। तब उनसे फूट भी पैदा होगी और एकता का नाश होने पर समाज की अवनति भी होगी। समाज की अवनति होने पर व्यक्ति विशेष की अवनति भी अनिवार्य है। सच तो यह है कि समाज और व्यक्ति का पारस्परिक दृढ़ सम्बन्ध है। एक की उन्नति दूसरे की उन्नति है। समाज की उन्नति होने से व्यक्ति की उन्नति होगी और व्यक्ति की उन्नति से समाज की उन्नति होगी। न तो समाज व्यक्ति की उपेक्षा कर सकता है और न व्यक्ति ही समाज की अवहेलना कर सकता है।

•

मनुष्यों में जैसी एक स्वार्थ-बुद्धि होती है, वैसी ही एक परार्थ-बुद्धि भी होती है। मनुष्यों में हम जिन गुणों का विकास देखकर मुग्ध हो जाते हैं, वे सभी गुण उसी परार्थ-बुद्धि द्वारा प्रकट होते हैं। दया, प्रेम, स्नेह, सहानुभूति, त्याग, सेवा आदि भाव एकमात्र मनुष्य की परार्थ-चिन्ता के कारण हमारे हृदय में उत्पन्न होते हैं। हमें अपने स्वार्थ-साधन से जो एक सुख या सन्तोष होता है, वही आनन्द हमें परार्थ-चिन्तन अथवा परोपकार से होता है। इस परार्थ-चिन्तन में मनुष्य का कल्याण है, इस-लिए यदि यह कहा जाय कि परार्थ-चिन्ता हमारी उच्च कोटि की स्वार्थचिन्ता ही है, तो यह सर्वथा उचित है। हमें अपने कल्याण के लिए, अपनी उन्नति के लिए, अपने सुख के लिए, दूसरों के लिए सुखकर कार्य करने पड़ते हैं। ऐसे ही कामों को हम सेवा

कहते है। सेवा का अर्थ है दूसरो का दुःख दूर करना, दूसरों को सुख पहुँचाना।

समाज दो-चार व्यक्तियों का समूह नहीं है। किन्तु व्यक्ति उसके अङ्ग अवश्य हैं; किसी भी व्यक्ति की सेवा करना समाज की सेवा करना है। यदि हम किसी कुपथगामी व्यक्ति को किसी भी प्रकार सुपथ पर ला सकें, तो उससे हमने समाज की सेवा अवश्य की। यदि हम किसी एक का अज्ञान दूर कर सकें, तो हम किसी अंश तक समाज की सेवा कर चुके। परन्तु यथार्थ समाज-सेवा वह सेवा है, जो किसी व्यक्ति-विशेष को सुख पहुँचाने की दृष्टि से नहीं, बल्कि अधिकांश लोगों को अधिकतम सुख पहुँचाने के लिए की जाती है।

(समाज मे एक ओर जीवन की स्थिरता है और दूसरी ओर परिवर्त्तनशीलता।) समाज जब तक दृढ़तापूर्वक किसी नियम का पालन नहीं करेगा, तब तक उसकी उन्नति नहीं होगी। इसी लिए अधिकांश लोगो का विचारकर समाज की एक मर्यादा बना दी जाती है। सभी व्यक्तियो को उस मर्यादा का पालन करना पड़ता है। चाहे किसी व्यक्ति को कष्ट क्यों न हो; किन्तु वह समाज की मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करेगा। यदि वह ऐसा करेगा तो समाज द्वारा निन्दनीय होगा। अधिक की भलाई का खयाल कर हमें उसके लिए एक की भलाई की चिन्ता छोड़नी ही पड़ती है। परन्तु कुछ समय के बाद अवस्था-विशेष में परिवर्त्तन होने के कारण समाज में दोष उत्पन्न हो जाते हैं। तब उन दोषों को दूर करने के लिए समाज की मर्यादा भङ्ग करनी पड़ती है और एक नई मर्यादा बनानी पड़ती है। जो लोग समाज को नये पथ का प्रदर्शन कराते हैं उन्हें कष्ट सहना पड़ता है। सभी तरह के कष्टों को सहकर वे समाज के कल्याण के लिए अपने कार्यों में दृढ़तापूर्वक लगे रहते हैं। अन्त में

अपनी सत्यता के कारण उन्हें विजय-लाभ होता है और वे समाज के सुधारक कहे जाते हैं। ये सभी लोग समाज के सेवक हैं।

समाज में समता का भाव होने पर भी सर्वत्र एक विषमता भी देखी जाती है। समाज में दीनों और दुखियों का अभाव नहीं रहता। कुछ लोग अन्नहीन होने के कारण असहाय होते हैं। कुछ लोग बिलकुल अनाथ हो जाते हैं। कुछ लोग अज्ञ होते हैं। कुछ लोग कुपथगामी होते हैं। इन सबकी सेवा करना, इन सब के हित के लिए काम करना समाज सेवा है। हमारे हिन्दू-समाज में आजकल अछूतोद्धार की जो चेष्टा की जा रही है, वह समाज-सेवा ही है। उसी प्रकार विधवाओं की दुरवस्था दूर करने के लिए अथवा किसानों का अज्ञान दूर करने के लिए या कुष्ठ आदि रोगग्रस्त लोगों की यातना दूर करने के लिए जो चेष्टाएँ की जा रही हैं, वे सभी समाज की सेवाएँ हैं। देश के सभी समर्थ नवयुवकों का यह कर्त्तव्य है कि वे ऐसी सेवाएँ करें। इससे समाज की उन्नति होगी और साथ ही साथ उनमें भी उच्च गुणों का विकास होगा। इसी लिए हमारे शास्त्रों में कहा गया है कि 'पर-सेवा से बढ़कर कोई सेवा नहीं।'

मैं जब सेवा के इन्हीं उच्च विचारों में लीन था, तब मैंने किसी की कर्कश आवाज सुनी। कोई किसी को कह रहा था—'तुमने अभी तक रुपये नहीं दिये। लेने के समय तो तुमने बड़ी खुशामद की, अब देने के समय तुम अपना मुँह छिपाते हो। यही तुम्हारी सज्जनता है?' इसके उत्तर में दूसरे ने कहा—'भाई, आजकल मेरी स्थिति अच्छी नहीं है, तुम तो जानते ही हो।' पहले ने कहा—'मैं कुछ नहीं जानता। तुम धोखेबाज हो, ठग हो, मक्कार हो। पर मैं तुम्हें देख ही लूँगा।' और भी अनेक अपशब्द कहकर वह व्यक्ति चला गया। मैंने बाहर निकलकर

देखा कि एक व्यक्ति बड़ा उदास और लज्जित होकर वहीं खड़ा हुआ है। मुझे देखकर उसने कहा—'देखा भैया, वह कितनी बातें सुना गया। पर मैं करूं तो क्या करूं? स्थिति की विवशता के कारण सब कुछ सहना ही पड़ता है। कभी मैंने उसकी बड़ी सेवा की थी; पर आज वह मेरी सेवाओं को भी भूल गया है!' मैं उसको क्या सान्त्वना देता? मैं फिर अपनी ही बातों की चिन्ता करता हुआ, अपनी ही स्वार्थ-सिद्धि के कितने ही उपाय सोचता हुआ, घर लौट आया।

नाम

कुछ दिन पहले की बात है, लखनऊ से एक सज्जन मुझसे मिलने आये। वे एक ग्रन्थ-विशेष का प्रचार करने आये थे। बात-चीत में उन्होंने मुझसे कहा कि उन्हें मेरे नाम पर कुछ आपत्ति है। उनके कहने का अभिप्राय यह था कि यदि मैं पदुम का पद्म कर दूँ तो अच्छा होगा। मेरे पिता हिन्दी और संस्कृत दोनों भाषाओं के पण्डित थे। मेरी माता भी हिन्दी-भाषा का अच्छा ज्ञान रखती थीं। यह तो सम्भव नहीं कि उन्हें पद्म शब्द का ज्ञान नहीं था, परन्तु तो भी जान-बूझकर उन्होंने किस भाव से प्रेरित होकर मुझे यह नाम दिया, यह वही जानें। अब न मेरी माता है, न मेरे पिता। दोनों दिवङ्गत हो गये हैं। उनसे तो मैं पूछ नहीं सकता, परन्तु यह बात सच है कि मैं स्वयं पदुम से अब पद्म नहीं बनना चाहता। मैं तो जीवन भर पदुम ही बना रहूँगा।

अन्य नामों के प्रति मुझे जरा भी अनुरक्ति नहीं है। यह सच है कि कितने ही लोगों ने अपने पुत्रों के बड़े ही सुन्दर नाम रक्खे हैं। मेरे एक छात्र का नाम है विक्टर चन्द्रादित्य। उन्हें यह नाम खूब शोभा देता है, परन्तु यदि कोई मुझे कहे कि तुम अपना यह भद्दा नाम छोड़कर विक्टर चन्द्रादित्य या प्रतापादित्य या विक्रमादित्य या ऐसा ही कोई दूसरा गौरवशाली नाम रख लो तो मैं इसे कभी स्वीकार नहीं करूँगा। पद्मकान्त, कमलाकान्त या कमलाकर आदि नाम भी ऐसे हैं कि मुझे ऐसा जान पड़ता है कि इनमें से किसी एक नाम को भी स्वीकार कर लेने पर उस नाम के गौरव-भार से मेरा सारा जीवन ही दब जायगा। मैं

साँस तक नहीं ले सकूँगा। मुझे तो यही अनुभव होगा कि सारा संसार मेरी ओर ताक रहा है और कहाँ जाकर मैं अपना मुँह छिपाऊँ। इसी लिए मैं जो हूँ वही रहूँगा। जीवन भर के कितने प्रकार के सुख-दुःखो का अनुभव कर, यश-अपयश का पात्र बन, प्रशंसा और धिक्कार को सुनकर, अब मैं ऐसा बन गया हूँ कि पद्म का लावण्य मेरे जीवन-रूपी काले कम्बल में रत्न की-सी चमक लाकर मुझे सभी लोगों का उपहास पात्र बना देगा।

सचमुच यह आश्चर्य की बात है कि माता-पिता क्या सोचकर अपने बच्चे का नाम रखते हैं। यह तो स्पष्ट है कि गुण-दोषो का विचार कर लोग नाम नहीं रखते। बच्चे में गुण-दोष की विवेचना कैसे हो सकती है? फिर कुछ नाम ऐसे भी हैं जिनका कुछ अर्थ नहीं। चन्द्र की मधुरिमा और आदित्य की कान्ति का विचार कर यदि लाल प्रद्युम्नसिंहजी ने अपने नाती का नाम चन्द्रादित्य रख दिया तो वह सचमुच उनके लिए सार्थक हुआ। परन्तु इसी नगर के कितने ही लोग भीम, अर्जुन, हरिश्चन्द्र आदि प्रसिद्ध नाम धारण कर अपना जो जीवन व्यतीत कर रहे है उसमें क्या कोई विशेषता है? इसके विपरीत कुछ नामों का तो अर्थ ही नहीं निकलता। परन्तु ऐसे नाम रखकर भी लोगों ने प्रतिष्ठा-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत किया है। बाबू बोन्हूसिंह का क्या अर्थ है? तो भी अपने नगर में उन्होने जो प्रतिष्ठा और ख्याति अर्जित की है उसे कौन नही जानता? इसी प्रकार कोदन साव, हिरावल पोद्दार, घासी बाबू क्या किसी विशेष अर्थ के द्योतक हैं? ये सब नाम किन भावो की प्रेरणा से रक्खे गये है, समझ में नहीं आता। तो भी इन सभी व्यक्तियो ने अपने जीवन मे विशेषता प्राप्त की। बात यह है कि चाहे नाम अर्थवान् हों चाहे निरर्थक, किसी को भी अपने नाम से विरक्ति नहीं हुई।

सभी को अपने नामों का गर्व होता है। कोई यह नहीं चाहता कि लोग उसे दूसरे नामों से पुकारें। नाम उनके लिए पैतृक सम्पत्ति है। उसमें माता-पिता का स्नेह है, उनकी ममता है, उनका उल्लास है और उनका अधिकार है। यदि हम अपने नामों को छोड़ बैठें तो हम अपने इन सभी भावों से भी हाथ धो बैठेंगे।

फिर भी ससार में ऐसे मनुष्यों का अभाव नहीं है जो अपने नामों को बदल डालते हैं। ऐसे लोग अपने हृदय में अपने नाम की हीनता का अवश्य अनुभव करते हैं। उन्हें ऐसा जान पड़ता है कि उसी हीनता के कारण उन्हें अपने जीवन में हीन रहना पड़ा। इसी लिए वे नाम को परिवर्त्तित कर गौरव के छद्म वेश में रहना चाहते हैं। वे मानो काक होकर बकों की श्रेणी में बैठना चाहते हैं।

कुछ भी हो, नाम के साथ व्यक्तित्व लगा रहता है। मैं दूसरों की बात नहीं जानता, पर मैं स्वयं नाम के साथ एक विशिष्ट गुण-सम्पन्न और एक विशिष्ट आकृति से युक्त व्यक्ति की कल्पना मन ही मन कर लेता हूँ। मैंने कितने ही उपन्यास पढ़े हैं। औपन्यासिक पात्रों के नाम से ही मैंने अपने मन में उनकी एक आकृति गढ़ ली है। शरत् बाबू का 'गृहदाह' नामक उपन्यास पढ़कर मैंने मृणाल और अचला के काल्पनिक रूप अपने मन में स्थिर कर लिये थे। 'मञ्जिल' नामक खेल में उसी का अभिनय देखकर मुझे सबसे बड़ी प्रसन्नता इस बात से हुई कि यमुना और मलिना दोनों ही उन्हीं पात्रों के अनुकूल हैं। चित्रपट में मैंने आज तक जितने खेल देखे हैं, उनमें सबसे अधिक मनोमोहक मुझे मञ्जिल ही लगा और उसका सबसे बड़ा कारण यह है कि दोनों अभिनेत्रियाँ अपने अनुकूल पात्रों के ही रूप में आ गई हैं।

मेरा तो यह विश्वास है कि नाम पर से सभी लोग व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध में कुछ न कुछ धारणा बना लेते हैं। महावीर का नाम लेते ही एक तेज-पूर्ण, गौराङ्ग व्यक्ति का चित्र मन में आपसे आप उदित हो जाता है। इसी प्रकार श्रीकान्त कहने से किसी दुर्बल किन्तु चञ्चल और श्याम रङ्ग के पुरुष की आकृति मन में प्रकट हो जाती है। किशोरी से जिस कृशाङ्गी ललना का चित्र उदित होता है वही चन्द्रकान्ता से नहीं होता। यह सच है कि यथार्थ जीवन में इसके विपरीत ही फल दिखाई देते हैं। एक बार मैं एक सज्जन से मिलने गया। मैं उनके नाम से ही परिचित था। दर्शन का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ था। उनका नाम था नन्दकिशोर मिश्र। मैंने तो अपने मन में यह सोच रक्खा था कि नन्दकिशोर मिश्र स्थूलकाय, गौरवर्ण और शुभ्रवस्त्रधारी कोई महापुरुष होंगे। उनकी विद्या की ख्याति भी मैंने पहले से सुन रक्खी थी। उनके घर के दरवाजे पर एक दुबले-पतले काले रङ्ग के पुरुष को देखकर और उसे साधारण पुरुष समझकर मैंने बड़ी अवज्ञा के भाव से कहा—जाओ श्रीमान् मिश्र जी को खबर कर दो कि कोई उनसे मिलने आये हैं। उसने बड़ी नम्रता से उत्तर दिया—"मैं ही नन्दकिशोर मिश्र हूँ। कहिए क्या आज्ञा है।" मैं अवाक् रह गया।

पुरुषों के विषय में ऐसी भूलें हो जाने से कोई हानि नहीं होती। परन्तु यही बात स्त्रियों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। ललिता का नाम सुनकर यदि आप किसी ललना को देखने जायँ और वहाँ यदि किसी अत्यन्त कुरूपा स्त्री को देख लें तो सचमुच आपके हृदय में बड़ा आघात होगा।

उपन्यास-लेखक कितने ही पात्रों की सृष्टि किया करते हैं और उन्हें नाम भी देते हैं। अपने पात्रों के नामकरण में वे अपनी किस कला-कुशलता का प्रदर्शन करते हैं, इसका मुझे ज्ञान नहीं

है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी के कितने ही उपन्यास-लेखकों के पात्रों के नाम से मुझे विरक्ति हो गई है। दार्शनिक विद्वानों का कथन है कि नाम और रूप दोनों मिथ्या हैं। परन्तु सांसारिक जीवन में लिप्त हमारे समान लोगों के लिए नाम और रूप ही सत्य हैं और सब मिथ्या हैं। कौन ऐसा आख्यायिका-प्रेमी होगा जो रवीन्द्र बाबू की 'काबुली' शीर्षक कहानी की मिनी को भूल सकता है? यदि उक्त कहानी में मिनी का नाम बदलकर चन्द्रकान्ता, मनोरमा या ऐसा ही अन्य कोई भव्य, गौरव-शाली नाम रख दिया जाय तो कथा का सम्पूर्ण रस ही नष्ट हो जायगा। बङ्किम बाबू के स्त्री-पात्रों के नाम बदलकर क्या आप उनके उपन्यासों से आनन्द प्राप्त कर सकते हैं? क्या आप 'रजनी' को 'शैवलिनी' कहना चाहेंगे? प्रेमचन्द जी के सेवा-सदन में 'सुमन' को कांचनलता या स्वर्णलता या कृष्णकुमारी कहकर पुकारिए तो आपको स्वयं ऐसा जान पड़ेगा कि आप उसका बड़ा उपहास कर रहे हैं।

मैं तो प्रत्येक नाम के साथ एक गुण-विशेष की कल्पना कर लेता हूँ। नाम पर हम लोगों का जीवन है। उसी में हम लोगों का व्यक्तित्व है उसी में हम लोगों की शक्ति और दुर्बलता छिपी हुई है। हमारे गुण और दोष उसी में सम्मिलित हैं। 'सत्यवती' में जो दृढ़ता और असहिष्णुता, दर्प और उदारता, हठ और प्रेम के भाव छिपे हुए हैं वे क्या 'रोहिणी' में हैं? 'सुमित्रा' में जो स्नेह, सेवा और शालीनता के भाव हैं वे क्या 'कैकेयी' में हैं? 'नारायण' में जो धैर्य, दृढ़ता और गम्भीरता है वह क्या 'रमा-कान्त' में है? 'गिरिजा' में जो गम्भीरता और शालीनता है वह क्या 'कामिनी' में है? 'सुनीता' में मैं चञ्चलता की कल्पना ही नहीं कर सकता। 'अमिता' और 'नमिता' दोनों में सादृश्य रहने पर भी एक में गम्भीरता है और दूसरे में चपलता। यही

कारण है कि मैं किशोरीलाल जी गोस्वामी, रूपनारायण पाण्डेयजी और भगवतीप्रसाद वाजपेयी जी के कितने ही पात्रों के नाम को पसन्द नहीं कर सका हूँ। प्रेमचन्द, इलाचन्द्र जोशी जी और जैनेन्द्र जी इसमे सिद्धहस्त हैं। कुछ भी हो, मेरा तो यह विश्वास है कि ध्वनि मात्र से ही नाम अपना एक विशेष अर्थ प्रकट कर देते हैं। पर कौन कह सकता है कि हम लोगों के नामकरण मे विधाता की अज्ञात शक्ति काम नहीं कर रही है। यदि यह बात न होती तो इतने नामो के होते हुए भी माता-पिता क्यों अपने पुत्रो और कन्याओ को एक विशेष नाम देकर ही संसार में छोड़ते ?

मैं यदि अपना नाम बदलना चाहूँ तो भी मैं नहीं बदल सकता। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि अपने इसी नाम के कारण मैं इस स्थिति-विशेष मे पहुँचा हूँ। ज्योतिषशास्त्र के ज्ञाताओ का कथन है कि पृथ्वी से सैकड़ों-हजारों मील दूर, अनन्त नभ मे चक्कर लगानेवाले नक्षत्रों का इतना अधिक प्रभाव हम क्षुद्र मनुष्यो के जीवन पर पड़ता है कि उनके द्वारा हमारे जीवन की गति निर्दिष्ट हो जाती है, उन्हीं पर हमारा-सुख-दुःख निर्भर हो जाता है, उन्हीं पर हमारा भविष्य-भाग्य आश्रित रहता है। नाम सुनकर ऐसे विज्ञजन हमारी जन्म-राशि का पता लगा लेते हैं और अमुक राशि मे जन्म लेने के कारण अमुक अवस्था में कलङ्कारोपण और संकट की बात निस्संकोच बतला देते हैं। यह नाम का ही तो प्रभाव है।

कुछ भी हो, नाम की महत्ता तो अवश्य है। धनी व्यक्ति अपना नाम छोड़ जाने के लिए बड़े बड़े कीर्त्तिस्तम्भ बनवा डालते है, विज्ञजन आजीवन परिश्रम कर नई-नई रचनाएँ छोड़ जाते हैं, वीरजन अपने पराक्रम की गाथायें ही चिरस्मरणीय बना डालते हैं। नाम पर ही कीर्त्ति और प्रसिद्धि अवलम्बित है और

नाम पर ही कलङ्क और अपयश आश्रित हैं। कुछ के नाम यदि उनके गुणों के कारण स्मरणीय होते हैं तो कुछ के नाम उनके अवगुणों के ही कारण प्रसिद्ध हो जाते हैं। पर नाम चाहे कितना ही भद्दा क्यों न हो, सभी लोग यह चाहेंगे कि दूसरे लोग इनके नामों का स्मरण करें। कलङ्क और अपयश का पात्र होकर भी मैं कभी यह नहीं चाहता कि कोई मेरे नाम को बिगाड़कर मुझे पुकारे। मुझमें चाहे अन्य किसी गुण के कारण गर्व न हो, परन्तु पिता-माता-द्वारा प्रदत्त अपने इस नाम का गर्व तो अवश्य है।

— —

प्रेमचन्द

(१)

वह चन्द्रकान्ता का युग था। आज वस्तुवाद और रहस्यवाद का युग है। वर्तमान युग के पाठक उस युग की कल्पना नहीं कर सकते जब देवकीनन्दनजी खत्री के मोह-जाल में पड़कर हम लोग सचमुच निद्रा और क्षुधा छोड़ बैठे थे। मैं बिलकुल छोटा था, पर मैं यह बात किसी भी तरह स्वीकार नहीं कर सकता था कि मैं "भैरोसिंह" नहीं बन सकता। मै लखलखा की खोज में व्यस्त हो गया। मेरे सहायक थे गजराज बाबू। वे मुझसे कहीं बड़े थे। हाई स्कूल की ऊँची कक्षा में पढ़ते थे। पर वे भी स्कूल छोड़कर लखलखा की खोज मे निकलते थे। उन दिनों हम लोग ऐसे ही फूलो की खोज किया करते थे जिन पर कोइ भी दृष्टिपात तक नहीं करता। हमें विश्वास था कि विश्व से अनादृत, उपेक्षित और तिरस्कृत कोई फूल किसी ऐसे ही अज्ञात स्थान मे खिल रहा है। उसमें एक ऐसी अलौकिक शक्ति विद्यमान् है, जो मृतप्राय मनुष्य में नव-जीवन-सञ्चार कर सकती है। छोटे-छोटे रङ्ग-रङ्ग के फूल हम लोग खोज-खोज कर लाया करते थे। कितने ही लोग हमारे इस काम की हँसी उड़ाया करते थे। कितने ही लोग हम लोगों का तिरस्कार करते थे। पर हम लोगों ने उपहास और निन्दा की परवाह नहीं की। हमें इन नाम-गोत्र-हीन फूलो से चाह हो गई थी। रूप-राशि और सौरभ से कमनीय फूलो पर तो संसार मुग्ध है। वे मनुष्य के गले का हार बनते हैं, और देवताओं के सिर पर भी चढ़ते हैं।

पर निर्धनों के भग्न-कुटीरों की शोभा बढ़ानेवाले किसानों के खेतों में खिलनेवाले, जङ्गलों में अपनी क्षीण शोभा फैलानेवाले, मलिनता की भूमि में पवित्रता का आभास देनेवाले इन फूलों में हम लोग गुण की एक गरिमा देखते थे। कौन जाने कब किस फूल से कोई 'जगन्नाथ' किसी 'वीरेन्द्रसिंह' को नव-जीवन-शक्ति प्रदान कर दे। इसी प्रकार तिलिस्म की खोज में हम टूटे-फूटे खँडहरों में घूमा करते थे। यदि अकस्मात् वहाँ कभी किसी बुढ़िया से भेंट हो जाती तो हम लोग सोचते, कौन जाने, इसका जीवन कितना रहस्यमय हो। कौन जाने बुढ़िया के रूप मे यही 'कमला' या 'मायारानी' हो। किसी बूढ़े को एकान्त मे बैठे हुए देखकर हम लोग चौंक पड़ते थे। हम लोग छिपकर उसे बड़े गौर से देखते। कौन जाने, छद्मवेश में वही कोई भूतनाथ हो। पर इतना प्रयास करने पर भी न हमें कभी लखलखा मिला और न कभी किसी तिलिस्म का पता चला। यह तो पण्डित रामनरेश त्रिपाठी के ग्राम-गीत-संग्रह प्रकाशित हो जाने के बाद, मैंने अब जाना कि ग्राम के किन फूलों में लखलखा से भी बढ़कर शक्ति है। इसी प्रकार ग्राम-ग्राम में, घर-घर में, प्रेम, स्नेह और त्याग का जो रहस्यमय तिलिस्म बनाया और तोड़ा जा रहा है उसे बतलाने के लिए प्रेमचन्दजी अभी तो आये। उन दिनों वे कहाँ थे ?

(२)

अपने पिता के पुस्तक-प्रेम के कारण १९०३ में ही मुझे हिन्दी की प्राय सभी पुस्तकें सुलभ हो गईं, परन्तु उन दिनों में जो पुस्तकें उत्तम थीं, उन्हें अब कदाचित् थोड़े ही पाठक पढ़ना पसन्द करेंगे। खत्रीजी के 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' नामक उपन्यासों के प्रेमी पाठक अब कितने हैं ? लज्जाराम मेहता,

किशोरीलाल गोस्वामी, राधाचरण गोस्वामी, गङ्गाप्रसाद गुप्त, रामकृष्ण वर्मा, हरिकृष्ण जौहर, या गोपालरामजी गहमरी की रचनाओं को अब कितने लोग चाव से पढ़ते है ? परीक्षागुरु को क्या आपने पढ़ा है ? 'सज्जाद-सुम्बुल' के पन्ने क्या आपने कभी लौटाये हैं ? 'आदर्श-दम्पति' की कहानी क्या आप कह सकते हैं ? धूर्त रसिकलाल की धूर्तता से क्या आप परिचित है ? इसी प्रकार उस समय जो उपन्यास बङ्गभाषा से अनुवादित किये गये थे, उनका भी अब प्रचार नहीं है। प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, राधाकृष्णदास, रामकृष्ण वर्मा, गङ्गाप्रसाद गुप्त आदि लेखक अनुवादक भी थे। मडेल-भगिनी, गङ्गा-गोपाल, वन-कन्या, सौदामिनी आदि उपन्यास अब खोजने से भी नहीं मिलेंगे। 'माधवी कङ्कण' का अनुवाद सबसे पहले कदाचित् गहमरीजी ने किया था। उसकी भाषा बड़ी कठिन थी। इतना मुझे स्मरण है कि भाषा-ज्ञान अल्प होने पर भी उसके समझने में मुझे कठिनता नहीं हुई। १९०४ से मैं 'सरस्वती' भी पढ़ने लगा और १९२० तक मैं बराबर 'सरस्वती' पढ़ता रहा।

साहित्य-जगत् मे कितने वर्षों का युग होता है, यह तो मैं नहीं जानता। पर मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि हिन्दी के औपन्यासिक जगत् के चार युग मैंने अपने इसी जीवन-काल में देख लिये। एक युग में देवकीनन्दन जी खत्री और पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी की धूम थी। दूसरे युग में गोपालरामजी गहमरी का गोरखधन्धा ख़ूब चला। तीसरे युग में बङ्किम बाबू तथा बङ्गाल के अन्य रत्नों ने हिन्दी पाठकों को मन्त्र-मुग्ध सा कर डाला। चौथे युग मे प्रेमचन्द जी का पादार्पण हुआ। अब तो हिन्दी में कई मौलिक आख्यायिका-लेखक और उपन्यास-कार हो गये हैं।

लोक-प्रियता साहित्य की कसौटी नहीं है। तो भी वह उपेक्षणीय नहीं है। चन्द्रकान्ता युग में जितना प्रचार चन्द्रकान्ता और चन्द्रकान्ता सन्तति का हुआ उतना और किसी उपन्यास का नहीं हुआ। स्वयं खत्रीजी के दूसरे उपन्यास उतने लोक-प्रिय नहीं हुए। कथा-वस्तु की यथार्थता के सम्बन्ध में यदि पाठकों के हृदय में लेखक ने मोह-जाल बना लिया तो जब तक वह मोह-जाल भङ्ग नहीं होगा तब तक कथा के लिए पाठकों का आग्रह बना रहेगा। चन्द्रकान्ता के चार भाग और सन्तति के २४ भागों में कहीं भी कथा का यह मोह-जाल भङ्ग नहीं हुआ है। एक से एक विलक्षण घटनाएँ हुई हैं, पर उनकी सम्भवनीयता और असम्भवनीयता पर पाठकों का ध्यान जाता ही नहीं। चन्द्रकान्ता का संसार चन्द्रकान्ता का ही संसार है। उसमें चरित्र-चित्रण नहीं, भावों का घात-प्रतिघात नहीं, मनोविकारों का विश्लेषण नहीं, व्यक्तित्व का निदर्शन नहीं; केवल कथा मात्र है जिसमें अन्त तक पाठकों का कौतूहल-भाव बना रहता है। कहा जाता है कि सहस्ररजनी चरित्र की शाहजादी रातभर कहानी कहकर प्रातःकाल ठीक ऐसे स्थान में कहानी को अपूर्ण छोड़ दिया करती थी कि शाहजादे को अपनी कौतूहलनिवृत्ति के लिए दूसरी रात की प्रतीक्षा करनी ही पड़े। यह गुण खत्रीजी में भी विद्यमान है। इसी एक गुण के कारण उनका इतना बड़ा उपन्यास लोक-प्रिय हो गया।

खत्रीजी के उपन्यासों में कोई गुण हो या न हो, पर यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि उन उपन्यासों के कारण हिन्दी की ओर लोगों की अभिरुचि बढ़ी। लोग हिन्दी पढ़ने लगे। बनारस उपन्यासों का 'केन्द्र हो गया। कितने ही छोटे बड़े उपन्यास प्रकाशित हुए। गोस्वामीजी के उपन्यासों को भी लोगों ने चाव से पढ़ा। गोपालराम गहमरीजी के जासूसी उपन्यासों

ने भी एक क्षेत्र बना लिया। पर हिन्दी लेखकों में सृजन-शक्ति का अभाव होने के कारण कितने ही उपन्यास अनुवाद मात्र थे। गोपालरामजी के 'गोविन्दराम' 'शर्लकहोम्स' थे। उन्हीं दिनों हिन्दी में एक मौलिक उपन्यास भी निकला जो मेरी समझ में हिन्दी की स्थायी सम्पत्ति है। वह है 'परीक्षा-गुरु'। परीक्षा-गुरु की कथा अत्यन्त साधारण है। उसमें एक श्री-सम्पन्न व्यक्ति का अधःपतन दिखाया गया है। न उसमें कौतुकपूर्ण घटनाएँ हैं और न सूक्ष्म भाव-विश्लेषण या चरित्र-चित्रण। पर भिन्न-भिन्न विषयों पर उसमें जो सुन्दर विवाद हैं वे अपूर्व हैं, हिन्दी की किसी भी पुस्तक में ऐसे हृदयस्पर्शी संवाद या वार्तालाप या कथोपकथन नहीं लिखे गये हैं। अचरज की बात यह है कि लेखक ने उन्हीं स्थलों पर एक विशेष चिह्न स्थापित कर दिया था और पाठकों से प्रार्थना की थी कि कथा-प्रेमी पाठक उन चिह्नित स्थलों को छोड़ दें, पढ़ने का कष्ट मत उठावें। मैंने जब उसे पहले-पहल पढ़ा तब मैं काफी छोटा था, पर मुझे वे स्थल इतने अच्छे लगे कि मैंने उसके कितने ही अंशों को कण्ठस्थ कर लिया था।

इसके बाद बङ्ग-भाषा के उपन्यासों के अनुवाद से हिन्दी साहित्य खूब परिष्कृत हो गया। बङ्किम बाबू, रवीन्द्र बाबू, स्वर्णकुमारी देवी, निरुपमा देवी, प्रभात बाबू तथा अन्य लेखकों के कितने ही उपन्यास हिन्दी में निकले। इनसे साहित्य में सुरुचि फैली। तब प्रेमचन्दजी आये और ठीक अवसर पर आये। हिन्दी के पाठक, श्रेष्ठ लेखकों की कल्पना-विभूति से परिचित हो चुके थे। कितने ही ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासों का पाठ वे कर चुके थे। उनमें से कितनी ही उच्च-कोटि की रचनाएँ थीं। ऐसी स्थिति में प्रेमचन्दजी ने हिन्दी पाठकों के हृदय में अपना जो स्थान बना लिया वह उनकी प्रतिभा का सूचक है।

(३)

हिन्दी के कितने ही समालोचक सर्वसाधारण की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के ग्रन्थों पर कम विचार करते हैं। एक बार मैंने कहीं यह पढ़ा था कि इन्शाअल्ला खाँ लल्लूलालजी से अधिक सफल ग्रन्थकार हैं; परन्तु सर्वसाधारण ने 'रानी केतकी की कहानी' को कभी देखा तक न होगा। इसके विपरीत लल्लूलाल जी का 'प्रेमसागर' अधिकांश लोगों के घरों में प्रचलित है। इसी प्रकार 'वैतालपचीसी' और 'सहस्ररजनी चरित्र' की कथाओं को कितने ही विज्ञ उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं; पर सर्वसाधारण में उनका जितना दीर्घकाल-व्यापी प्रचार और प्रभाव है, उतना कदाचित् किसी कथा-ग्रन्थ का नहीं होगा। कथाओं में घटनाओं की प्रधानता होने पर कितने ही लोग यह समझते हैं कि उनमें कथा-रस की अच्छी पुष्टि नहीं हुई है; परन्तु जीवन में भाव-वैचित्र्य और चरित्र-वैचित्र्य घटनाओं के द्वारा ही लक्षित हो सकता है। मनुष्यों के अन्त जगत् पर वाह्यजगत् का कोई प्रभाव नहीं पड़ता यह समझना भूल है। घटनाओं के कारण मनुष्यों के जीवन में भावों का परिवर्तन हो जाता है। सभी अवस्थाओं में घटनाओं की विलक्षणता पर मनुष्यों का कौतूहल भाव जागृत होता है। इसी कौतूहल भाव पर ज्ञान की प्रतिष्ठा होती है। अत. सर्वसाधारण में यह भाव उपेक्षणीय नहीं। घटनाओं के विन्यास में यदि कथाकार को पूर्ण सफलता होती है तो वह पाठकों के हृदय पर अक्षय प्रभाव छोड़ जाता है। यही कारण है कि 'सहस्र रजनीचरित्र' की कथाएँ या 'वैताल-पचीसी' की कहानियाँ सभी देशों में समान रूप से आदर पा चुकी हैं और अभी तक लोग उन्हें चाव से पढ़ते ही हैं।

हिन्दी के आदिकाल में जितने ही उपन्यास लिखे गये उनमें 'चन्द्रकान्ता' का प्रभाव जनता पर जितना पड़ा उतना प्रसादजी

के 'कङ्काल' का नहीं पड़ा है। 'चन्द्रकान्ता' ने पाठकों के हृदय में कल्पना का जो जगत् निर्मित कर दिया, उसकी तुलना प्रसाद जी द्वारा निर्मित भावजगत् या जैनेन्द्र द्वारा रचित सामाजिक जगत् से नहीं की जा सकती। यह सच है कि 'चन्द्रकान्ता' में घटनाओं की विलक्षणता पर ही कथा-रस निर्भर है; परन्तु उसके पात्र पाठकों के हृदय पर अपनी विशेषता स्थापित कर जाते हैं। जो लोग 'चन्द्रकान्ता' पढ़ चुके हैं वे उसके पात्रों को कभी नहीं भूल सकते। 'चन्द्रकान्ता' के बाद लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा-गुरु' मेरे लिए तो विशेष स्पृहणीय ग्रन्थ हुआ। उसमें अङ्कित व्रजकिशोर को भूल जाना मेरी समझ में पाठकों के लिए सम्भव नहीं है। अनुवाद-ग्रन्थों में 'दीप-निर्वाण', 'स्वर्णलता' और 'माधवी-कंकण' ने मुझको विशेष रूप से मुग्ध किया था। इसके बाद तो हिन्दी में बङ्गभाषा से अनूदित उपन्यासों की धूम मच गई। रूपनारायण पाण्डेयजी के अनुवाद सबसे अधिक लोकप्रिय थे। इन्हीं उपन्यासों ने हिन्दी-साहित्य के सभी पाठकों की रुचि परिवर्तित कर दी। हिन्दी के जिस मौलिक उपन्यास ने सबसे पहले आकृष्ट किया, वह था 'प्रेमा'। इसके पहले किशोरीलाल गोस्वामीजी के मैं सभी उपन्यास पढ़ चुका था। इनसे मुझे विरक्ति-सी हो गई थी। लज्जाराम मेहता के 'आदर्श दम्पती' को मैंने कुछ चाव से अवश्य पढ़ा, पर सती पर एक के बाद एक विपत्ति का आगमन देखकर मुझे अरुचि हो गई थी। ज्योंही वह एक विपत्ति में पड़ती थी, त्योंही मैं यह समझ जाता था कि वह इस विपत्ति से अवश्य छूट जायगी और फिर दूसरी विपत्ति में न पड़ेगी। इतनी आपत्तियों में उसे गिराकर भी लेखक उसके प्रति पाठकों की सहानुभूति नहीं आकृष्ट कर सके हैं। 'सौन्दर्योपासक' और 'अध-खिला फूल' में मैंने तो केवल भाषा का चमत्कार

ही देखा, पर 'प्रेमा' में, पूर्णा ने तुरन्त ही मेरी सहानुभूति खींच ली।

(४)

प्रेमचन्दजी का यथार्थ नाम था मुंशी धनपतराय। हिन्दी-साहित्य-जगत् में आने के पहले उर्दू-साहित्य में वे यथेष्ट प्रसिद्धि पा चुके थे, उनकी प्रतिभा विकसित हो चुकी थी, उनकी शैली निश्चित हो चुकी थी।

उनका पहला उपन्यास 'सेवासदन' सबसे अधिक लोक-प्रिय हुआ। उसमें जीवन का क्षुद्र क्षेत्र अवश्य है परन्तु उसका पूर्णरूप से विकास हुआ है। 'सेवासदन' की समस्या हमारे समाज की समस्या है। 'सेवासदन' के पात्र हमारे ही समाज के व्यक्ति हैं। 'सेवासदन' में हमारे ही घर का चित्र स्फुट हुआ है। उसमें मानव-चरित्र की सभी दुर्बलताएँ हैं। पर उन दुर्बलताओं के प्रति सभी पाठकों की सहानुभूति बनी रहती है। समाज का यथार्थ चित्रण होने पर भी उसमें उसकी असंयत अवस्था का वर्णन नहीं, झलक मात्र है। उसमें वासना है, पर वह प्रचण्ड नहीं हुई है। उसमें लालसा है, पर उद्दाम नहीं हुई है। उसमें अन्तर्द्वन्द्व है, पर मनोभावों का वह उत्थान-पतन नहीं है, जो हृदय में विप्लव मचा देता है। सर्वत्र एक संयम है।

'सेवासदन' के बाद 'प्रेमाश्रम', 'कायाकल्प', 'रङ्गभूमि', 'गबन' आदि कई उपन्यास निकले। उपन्यास के क्षेत्र में सभी लोगों ने उन्हें सम्राट स्वीकार कर लिया। 'रङ्गभूमि' में प्रेमचन्द जी ने जीवन का विशाल क्षेत्र लिया है। 'गबन' और 'कायाकल्प' में उन्होंने चरित्र-वैचित्र्य की सृष्टि की है। परन्तु 'सुमन' के समान एक भी पात्र ने मुझपर प्रभाव नहीं डाला। हिन्दी साहित्य-जगत्

पर उनके उपन्यासो की अपेक्षा उनकी आख्यायिकाओ का प्रभाव अधिक पड़ा है। हिन्दी में अभी तक उपन्यासों की अपेक्षा आख्यायिकाओ की वृद्धि हो रही है। आख्यायिकाओ की लोकप्रियता का कारण यह है कि उनमें थोड़े में ही उपन्यास के कथा-रस का आस्वादन हो जाता है। उपन्यास और आख्यायिका, दोनों में मनुष्य-जीवन का चित्र रहता है, उसके सुख-दुःख की बातें रहती हैं। भेद यही है कि उपन्यास में चरित्र के विकास की ओर लेखक का विशेष ध्यान रहता है और आख्यायिका में एक विशेष भाव की अभिव्यक्ति के लिए, एक विशेष स्थिति का दिग्दर्शन कराने के लिए चेष्टा की जाती है। उपन्यासों मे जो घटनाएँ आती हैं, भावों का जो उत्थान-पतन दिखाया जाता है उनका एक-मात्र लक्ष्य यह है कि व्यक्ति के चरित्र की दुर्बलता और महत्ता प्रकट हो जाय। आख्यायिकाओ में उनके लिए स्थान ही नहीं है। उनमें केवल एक भाव को ही परिस्फुट करने के लिए लेखक दो-एक घटनाओं का वर्णन करता है। आख्यायिका के प्रारम्भ से अन्त तक उस एक भाव की प्रधानता रहती है। परन्तु अच्छे लेखकों में यही भाव गुप्त रहता है। सारी कहानी पढ़ लेने के बाद यह भाव सहसा उदित हो जाता है। प्रेमचन्द जी की अधिकांश कहानियो में घटना और भाव का ऐसा उचित सन्निवेश किया जाता है कि यह नहीं जान पड़ता कि घटना प्रधान है या भाव। 'पञ्चपरमेश्वर', 'बड़े घर की बेटी' या 'ईश्वरीय न्याय' में भाव के साथ घटना का अपूर्व तारतम्य है। हिन्दी में कई लेखको ने प्रेम-चन्दजी की भाषा और शैली का तो अनुकरण किया, परन्तु आज तक किसी ने उनके समान एक भी कहानी नहीं लिखी।

यह सम्भव नहीं है कि कहानियाँ बिलकुल निरुद्देश हों, क्योंकि कोई भी लेखक अपने समाज की परिस्थिति को भूल नहीं सकता। यदि कोई चाहे तो प्रेमचन्दजी की कहानियों से हिन्दू-समाज के

कितने ही दोष-गुण-निदर्शक दृष्टान्त ले सकता है। पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि सास-बहू के झगड़े या बाल-विवाह के दुष्परिणाम दिखलाने के उद्देश्य से ये कहानियाँ लिखी गई हैं। लेखक आख्यायिका में बाह्य जगत को लेकर व्यस्त नहीं रहता। वह तो अपनी सूक्ष्म दृष्टि से अन्तर्जगत् का दृश्य देखता है। संसार की घटनाओं में कब, कैसे और कौन भाव मनुष्य को परिचालित करता रहता है, वह इसी को स्पष्ट कर देता है। प्रेमचन्दजी की कहानियों में व्यापक सहानुभूति और सूक्ष्म, अन्तर्गामिनी दृष्टि, गम्भीर अनुभूति और परख की झलक है।

कल्पना-प्रसूत साहित्य के लिए विद्वत्ता की कम, अनुभूति और कल्पना की अधिक आवश्यकता है। ऐसी रचनाओं में लेखकों की विवेचना-शक्ति नहीं, सृजन-शक्ति प्रकट होती है। जिनमें प्रतिभा है वही मौलिक चरित्रों की सृष्टि करते हैं। ये चरित्र मनुष्यों की निष्प्राण, जड़ छाया नहीं हैं। कल्पना की सृष्टि होने पर भी मानसिक जगत् पर उनका जितना प्रभाव पड़ता है उतना बहिर्जगत् पर व्यक्तियों का प्रभाव नहीं पड़ता। हिन्दू-समाज पर जिन चरित्रों का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा है उनके ऐतिहासिक अस्तित्व के सम्बन्ध में किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। सावित्री और दमयन्ती, शकुन्तला और पार्वती, सीता और द्रौपदी इत्यादि चरित्रों का अस्तित्व नूरजहाँ और चाँदबीबी की अपेक्षा कहीं अधिक यथार्थ है। उनका प्रभाव अक्षय है। वाल्मीकि हों या होमर, कालिदास हों या शेक्सपीयर, बङ्किम हों या स्काट, चरित्रों की सृष्टि में ही उनके कर्त्तव्य, उनकी सृजन-शक्ति का परिचय हमें होता है। प्रेमचन्द जी ने कम से कम दो चरित्र ऐसे निर्मित किये हैं जिन्हें हम सहसा नहीं भूल सकेंगे। वे हैं सुमन और सूरदास।

(५)

प्रेमचन्दजी का जीवन-काल सुख-दुःख की कितनी ही घटनाओं से पूर्ण था। यहाँ उनके उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। ग्रन्थ में ही लेखक की आत्मा छिपी रहती है। इँगलैंड के एक विख्यात प्रधान सचिव का कथन है कि सभी मनुष्यों के पास एक वर्णनीय विषय है। और वह है उसकी आत्मकथा। इसमें सन्देह नहीं कि कितने ही उपन्यास-लेखकों ने नायकों के रूप में अपनी ही आत्मकथा लिखी है। कवि भी आत्मानुभूति को काव्य का रूप देता है। डॉन जुआॅन के रूप में बायरन ही वर्तमान है। जेन आयर के रूप में उसकी लेखिका ही विद्यमान है। डेविड कॉपरफील्ड में चार्ल्स डिकिन्स की ही आत्मा है। उपन्यासों में जिस जगत् का वर्णन होता है वह यथार्थ जगत् से भिन्न ही होता है, वह कवि के अन्तर्जगत् में निर्मित होता है। इसलिए उसे हम यथार्थ जगत् की छाया नहीं कह सकते। उसमें उसके निर्माता के सभी भाव विद्यमान रहते हैं। संसार में उसने सुख-दुख का जो अनुभव किया है, ग्लानि, अपमान, वेदना और नैराश्य के जो भाव उसके हृदय में उद्भूत हुए हैं, वे उसके जगत् को एक विशेष रङ्ग में रँग देते हैं। कला में जो सृजन होता है, वह इसी अनुभूति पर निर्भर है; किन्तु भावों के विन्यास में, चरित्रों के निर्माण में, व्यक्तित्व के विश्लेषण में, घटनाओं के भीतर जीवन-धारा को प्रवाहित करने में लेखकों की जो कुशलता होती है वह उनकी बुद्धि पर अवलम्बित रहती है। शैली की अपूर्वता इसी का फल है। जो भाषा भावों की अभिव्यक्ति का साधन है, वह भिन्न भिन्न लेखकों के, भिन्न-भिन्न संस्कारों से युक्त होकर भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेती है। शैली की विशेषता लेखक के मानसिक विकास की विशेषता है। उसने ज्ञान और अभ्यास द्वारा जो कुछ स्वायत्त किया है, उसके कारण उसकी शैली में एक अपूर्वता आ जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कला में अनुभूति के साथ बुद्धि का मेल होता है, तब उससे लेखक का व्यक्तित्व प्रकट हो जाता है।

प्रेमचन्दजी ने तटस्थ निरीक्षक की तरह मानव-जीवन की समीक्षा की है। इस समीक्षा में उनके धार्मिक संस्कार के साथ आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता का भी प्रभाव है।

मनुष्यों के जीवन के विकास में देश, काल और स्थिति का प्रभाव पड़ता है। एक विशेष स्थान में, एक विशेष समय में और एक विशेष परिस्थिति में जन्म लेने के कारण किसी मनुष्य का जीवन एक विशेष रूप से विकसित होता है। उसमें अपनी कुछ शक्ति अवश्य रहती है; परन्तु उसकी वह शक्ति एक विशेष अवस्था का अतिक्रमण कर एक विशेष रूप में ही लक्षित होती है। बाह्य जगत् से हम धार्मिक और बौद्धिक संस्कार प्राप्त करते हैं। मानव जाति के विकास में धर्म और विज्ञान दोनों ने बड़ा काम किया है। इसी प्रकार मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में भी धर्म और विज्ञान दोनों का प्रभाव पड़ता है। विश्वास और श्रद्धा को लेकर धर्म अग्रसर होता है। विस्मय, परीक्षा और अन्वेषण को लेकर विज्ञान आगे बढ़ता है। धर्म मनुष्य को त्याग की शिक्षा देता है; विज्ञान उसे शक्ति-सञ्चय के लिए उत्तेजित करता है। धर्म मनुष्य को प्रेममय भक्ति के राज्य में ले जाता है, जहाँ वह पार्थक्य और विभिन्नता को भूल जाता है। विज्ञान उसे ज्ञान के राज्य में ले जाता है, जहाँ वह सबसे पहले वैचित्र्य और पार्थक्य का अनुभव कर अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो जाता है। ज्ञान और धर्म के इस अन्तर्द्वन्द्व में मनुष्य के जीवन का विकास होता है। इसका स्वार्थ और अहङ्कार, प्रेम और त्याग, लालसा और वासना, दया और सहानुभूति से युक्त जीवन भिन्न-भिन्न परिस्थितियों का अतिक्रमण कर अपने लिए एक विशेष पथ बना लेता है। इसलिए ज्ञान का उच्चतम विकास हो जाने पर भी

मनुष्य में भाव का सर्वथा लोप नहीं हो जाता। महाकवि गेटे के डाक्टर फास्ट की तरह मनुष्य अपने ज्ञान के द्वारा एक के बाद एक अलौकिक शक्ति स्वायत्त कर के भी अन्त में शून्यता का और असारता का ही अनुभव करता है। कथा-साहित्य में मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन का यही विकास प्रदर्शित होता है।

कथा-साहित्य में जो आदर्शवाद प्रचलित है, वह धर्म का ही प्रभाव है। वस्तुवाद या यथार्थवाद विज्ञान का फल है। आदर्शवाद में हम देश, काल और परिस्थिति का अतिक्रमण कर मानव-जीवन का उच्चतम आदर्श प्रदर्शित करते हैं। यथार्थवाद में देश, काल और परिस्थिति के भीतर मानव-जीवन का विकास दिखलाकर उसका अनिवार्य अन्त देखते हैं। परन्तु कथाओं में जो एक रस है, जो एक आनन्द की अनुभूति है, वह न तो आदर्शवाद पर प्रतिष्ठित है और न वस्तुवाद पर। कथाओं के द्वारा जब लेखक हमको अपनी कल्पना के लोक में ले जाकर आत्म-विस्मृत करा देता है तब हम उसके कथागत पात्रों के सुख-दुख में लीन हो जाते हैं। उन पात्रों के साथ हमारी ऐसी सहानुभूति हो जाती है कि वे हम लोगों के लिए चिरपरिचित सहचर हो जाते हैं। तब उनके जीवन का उतना ही प्रभाव हम पर पड़ता है, जितना हमारे साथियों का। सच तो यह है कि अलक्षित होने के कारण उनका प्रभाव विशेष प्रबल होता है। प्रेमचन्दजी तो चले गये पर मेरे समान पाठकों के लिए आनन्द का एक अक्षय भण्डार छोड़ गये हैं।

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी

(१)

हिन्दी-साहित्य में जब एक ओर कल्पना प्रसूत-साहित्य का निर्माण हो रहा था तब कितने ही विज्ञों के द्वारा ज्ञान का क्षेत्र भी परिष्कृत हो रहा था। भारतेन्दुजी हिन्दी-साहत्य-सेवियों के लिए पथ-निर्देश कर गये थे। उनके बाद साहित्य-निर्माण का भार उन लोगों पर पड़ा, जिनकी शक्ति परिमित थी। उन लोगों में साहित्य के प्रति अनुराग था, उत्साह था, सेवा-भाव था। उन लोगों ने भारतेन्दु द्वारा निर्दिष्ट पथ पर हिन्दी-साहित्य को अग्रसर करने के लिए सभी तरह के प्रयास किये। उन्होंने निबन्ध लिखे, नाटकों की रचना की, उपन्यासों और आख्यायिकाओं का प्रणयन किया, अन्य भाषाओं के कुछ ग्रन्थ-रत्नों के अनुवाद भी किये, पत्र भी निकाले। परन्तु उनमें से अधिकांश साधनहीन थे। उनके प्रयास प्रयास-मात्र रहे। पण्डित राधाचरण गोस्वामी का 'भारतेन्दु', पण्डित प्रतापनारायण मिश्र का 'ब्राह्मण' और पण्डित बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी-प्रदीप' उन्हीं की जीवन-साधना के स्मृति-स्तम्भ हैं। प्रतिभा ईश्वर-प्रदत्त शक्ति है, पर उसके विकास के लिए मनुष्य-प्रदत्त शक्ति की आवश्यकता है। उन दिनों हिन्दी-साहित्य की ओर उपेक्षा-भाव था। सर्व-साधारण को आकृष्ट करने के लिए कौतूहल-वर्धक साहित्य की आवश्यकता थी और इस आवश्यकता की पूर्त्ति की देवकीनन्दन खत्री ने। उनके उपन्यासों ने हिन्दी-भाषा-भाषियों के हृदय में साहित्य के प्रति अनुराग अवश्य पैदा कर

दिया। काशीधाम उपन्यासों का एक प्रधान क्षेत्र हो गया। और कितने ही उपन्यास प्रकाशित हुए। कुछ मौलिक थे और कुछ अनुवाद। पर सभी तरह के उपन्यासो का यथेष्ट प्रचार हुआ। यही आधुनिक हिन्दी-साहित्य का निर्माणकाल अथवा प्रयास-काल है।

(२)

साहित्य का सबसे बड़ा समालोचक काल है। अधिकांश लेखकों का गौरव अल्पकालीन होता है। कुछ ही वर्षों में उनकी रचना का महत्ता नष्ट हो जाती है। कुछ लोग अपने जीवन-काल भर गौरव का उपभोग करते हैं। उनके बाद उनका भी गौरव विलुप्त हो जाता है। पर कुछ ऐसे होते हैं, जिनकी रचना साहित्य की स्थायी सम्पत्ति होती है। किस रचना में स्थायित्व है यह कहना कठिन है। इसकी यथार्थ परीक्षा तो काल ही करता है, पर इसमें सन्देह नहीं कि हम लोग प्रायः लोक-प्रिय साहित्य को ही स्थायी साहित्य मान बैठते हैं। आज जो काव्य, नाटक अथवा उपन्यास अभूतपूर्व जान पड़ता है, उसकी नवीनता कुछ ही वर्षों में नष्ट हो जाती है तब उसके स्थान में दूसरे अभूतपूर्व काव्य, नाटक अथवा उपन्यास आ जाते हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के निर्माण काल में जो रचनायें अभूतपूर्व थीं, उनमें से अधिकांश तो बिलकुल विलुप्त हो गई हैं और कुछ केवल संग्रह-ग्रन्थों में हैं। कुछ ऐसी हैं जिनका दर्शन हमें पुस्तकालयों में ही होता है। सर्वसाधारण की पठनीय सामग्री में अब उनका स्थान नहीं है। रचनाएँ स्पृहणीय न होने पर भी उनके लेख श्रद्धेय अवश्य हैं।

अड़तीस वर्ष का समय कुछ अधिक नहीं होता; परन्तु गत अड़तालीस वर्ष हिन्दी-साहित्य के लिए अवश्य महत्त्वपूर्ण

हैं। अड़तालीस वर्ष पहले हिन्दी-साहित्य की जो स्थिति थी, आज वह नहीं है। हिन्दी-साहित्य अब ख़ूब सम्पन्न हो गया है। 'सरस्वती' का सम्पादन-भार लेने के बाद द्विवेदीजी ने हिन्दी की हीनावस्था को प्रकट करने के लिए जो एक व्यंग-चित्र उसमें प्रकाशित कराया था आज वही चित्र हम लोगों को उपहास-जनक प्रतीत होगा। हिन्दी साहित्य की यह आश्चर्य-जनक उन्नति द्विवेदीजी की साधना का फल है। द्विवेदीजी ने अपनी साहित्य-सेवा के द्वारा हिन्दी में एक नया युग ही ला दिया। उस युग की विशेषता है, हिन्दी में सुरुचि और सुशिक्षा का प्रचार।

द्विवेदीजी का एक बड़ा काम उनकी समालोचना है। उनके समय में सरस्वती का पुस्तक-परिचय महत्त्वपूर्ण था। द्विवेदी जी की सम्मति एक कठोर निरीक्षक की सम्मति थी। हिन्दी में अब तो सम्मतियाँ प्रकाशित करने की चाल ख़ूब बढ़ गई है। विद्वानों की सम्मतियाँ आदरणीय अवश्य हैं। समाज में जिन लोगों की विशेष प्रतिष्ठा है उनकी सम्मतियों का प्रभाव भी ख़ूब पड़ता है। इसी लिए लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों की अनुकूल सम्मतियाँ प्रकाशित करने से प्रकाशकों और लेखकों को यथेष्ट लाभ होता है। सब-साधारण को यह विश्वास रहता है कि जो विद्वान् हैं वे ख़ूब सोच-विचार कर, गुण-दोषों की अच्छी तरह परीक्षा कर, किसी रचना पर अपनी सम्मति दिया करते हैं। आजकल हिन्दी में जो सम्मतियाँ प्रकाशित होती रहती हैं उन्हें पढ़ने से यही जान पड़ता है कि इन सम्मतियों का आधार कोई सिद्धान्त नहीं रुचि-मात्र है। किसी विद्वान् को कोई रचना रुचिकर नहीं है, किसी को उपन्यासों और कथाओं से विरक्ति है, किसी को स्त्रियों के चित्रों से चिढ़ है। ऐसे विद्वान् ऐसी रचनाओं के विरुद्ध अपनी सम्मति देंगे ही,

परन्तु समालोचना करना एक बात है और अपनी रुचि के अनुसार किसी रचना को अच्छी या बुरी कहना दूसरी बात है। विद्वानों में भी रुचि-वैचित्र्य होता है। रुचि रुचि मे भेद भी है। किसी की रुचि दूषित होती है और किसी की विशेष परिष्कृत। शिक्षा और संस्कार के प्रभाव से किसी देश के अधिकांश लोगों की रुचि एक-सी हो जाती है। उसे हम लोग रुचि कहते हैं। न तो विद्वानों की रुचि उपेक्षणीय है और न लोक-रुचि। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी रुचि के आधार पर यदि कोई सम्मति दी जाय तो वह समालोचना नहीं है, और व्यवसाय की दृष्टि से चाहे उनका कितना ही अधिक मूल्य क्यों न हो, साहित्य की दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नहीं है। समालोचना या सम्मति-दान का आधार कोई सिद्धान्त होता है। यदि किसी विद्वान् को देव की रचना की अपेक्षा बिहारी की रचना अधिक रुचिकर है, या अधिकांश लोगों को 'सेवा-सदन' की अपेक्षा 'रङ्गभूमि' अधिक चित्ताकर्षक है, तो उसी के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि देव से बिहारी श्रेष्ठ हैं या रङ्गभूमि से सेवासदन हीन है। किसी रचना के गुण-दोषों की विवेचना करने के लिए हमें अपनी व्यक्तिगत रुचि की उपेक्षा कर उन सिद्धान्तों के अनुसार आलोचना करनी चाहिए जिनसे साहित्य की यथार्थ महिमा प्रकट होती है। द्विवेदीजी एक सिद्धान्त को लेकर आलोचना करते थे। इससे उनकी आलो-आलोचना का यथेष्ट प्रभाव पड़ा।

समालोचना सचमुच साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है। इतिहास, विज्ञान आदि साहित्य की अन्य शाखाओं की तरह समालोचना की भी आवश्यकता है। किसी रचना का गुण-दोष बतला देने से ही समालोचना का कार्य समाप्त नहीं हो जाता। समालोचना के लिए सबसे बड़ी आवश्यक बात यह है कि उसमें

उन सिद्धान्तों की विवेचना की जाय जिनके आधार पर सत्साहित्य की प्रतिष्ठा होती है। सत् और असत् की विवेचना ही समालोचना है। कभी-कभी समाज की कुछ ऐसी विकृत अवस्था हो जाती है कि उसे अनिष्टकर रचनाएँ ही विशेष रुचिकर मालूम होती हैं। ऐसी अवस्था में समालोचक का यह कर्त्तव्य है कि वह सत् और असत् की विवेचना कर जनसमाज की रुचि को सत्साहित्य की ओर प्रेरित करने की चेष्टा करे।

समालोचना के विषय में अमेरिका के प्रसिद्ध कवि वाल्ट ह्विटमेन का कथन है—साहित्य-मर्मज्ञों की यह धारणा सी हो गई है कि केवल साहित्य की अवनति के दिनों में समालोचना का उदय होता है। सम्भव है, ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात सच हो, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि यह बात तीनों कालों के लिए एक समान सत्य है। मैं तो समझता हूँ कि यदि उचित प्रकार की समालोचना हो, यदि यह काम केवल उन लोगों के हाथ में रहे जो सचमुच बड़े हैं, तो वे सहज ही में आधुनिक काल के लेखकों की कुरुचिपूर्ण प्रणाली की धज्जियाँ उड़ा सकते हैं, इतना ही नहीं, वे इसका भले प्रकार विध्वंस करके उच्च कोटि के लेखकों, यहाँ तक कि कवियों, को भी उत्पन्न कर सकते हैं। किन्तु इसके लिए समालोचकों को एक आदर्श की कल्पना क्या, सृष्टि करनी होगी। संसार में ऐसे मनुष्य कितने हैं जो ऐसे साहित्य-मर्मज्ञों के महत्त्व की बराबरी कर सकें, जो सदैव सत्य की खोज में व्यस्त रहते हैं। यदि हम समालोचना को केवल उसी अर्थ में प्रयुक्त करें जिसमें उसे होना चाहिए, तो वह सचमुच बड़ा काम है। यह एक कला है, शायद इसे हम एक 'धर्म' का स्थान देने में भी सङ्कोच न करेंगे, क्योंकि इस संसार में जो कुछ है, मनुष्य ने जितनी भी सफलता यहाँ प्राप्त की है, वे सब इनके अन्तर्गत आ जाती हैं। इसके सिद्धान्त सुनिश्चित हैं। एक ओर सारा विश्व इसमें

समाया हुआ है, सार्वभौमिकता इसमें कूट-कूटकर भरी है, किन्तु दूसरी ओर यह छोटी से छोटी बात की भी अवहेलना नहीं करता। समालोचक की आँख सदैव खुली रहती है और कान सदा चैतन्य रहते हैं। उसे हृदय और भावनाओं का तथा नैसर्गिक और बौद्धिक विकास दोनों प्रकार का अच्छा ज्ञान रहता है। उसका क्षेत्र केवल बुद्धि तक नहीं है, हृदय पर भी उसका विकास है, क्योंकि पिता के अनुभवों, माता के भावों, देशभक्त की चिन्ताओं का भी उसे पूरा-पूरा ज्ञान होता है। वह साहित्य का मर्मज्ञ होता है—इस विषय में तो कहना ही क्या, सारी पुस्तकों का भाण्डार उसकी हथेली पर नाचता है। सच पूछो तो उसे पुस्तकों का व्यसन-सा होता है। इन सब गुणों से व्यक्त होने पर ही समालोचक सच्चा समालोचक हो सकता है। यही बात द्विवेदीजी में थी।

हमारे देश और हमारे युग के लिए जो साहित्योद्यान चाहिए, उस आनन्द-कानन के लिए ऐसे ही मालियों, ऐसे ही निरीक्षकों और ऐसे ही समालोचकों की आवश्यकता थी। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार काट-छाँट करनेवाले मालियों के हाथ पड़कर नन्दन-कानन की भी दुर्दशा हो जावेगी। भारत की भौगोलिक स्थिति कितनी विस्तीर्ण और कितनी विभिन्न है, इसमें कितनी जातियों का समावेश हो गया है, इसमें कितने विचित्र आदर्श हैं। इसी ने सबसे पहले एक स्वतन्त्र, शक्ति-सम्पन्न और पूर्ण-पुरुष की कल्पना संसार के सामने रक्खी है। आदर्शों के इन ऋजु-कुटिल और नाना पन्थों में समाज को सत्य का आलोक प्रदान करने के लिए सच्चे समालोचकों का होना अनिवार्य है।

यह सच है कि किसी रचना के मूल्य की परीक्षा साहित्य के नियमोपनियमों के द्वारा कदापि नहीं हो सकती। सच पूछा जाय तो मौलिक और उच्च कोटि की कृति का ऐसे प्रचलित

नियमोपनियमों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। प्रतिभा किसी प्रकार के बन्धन को स्वीकार नहीं कर सकती। प्रतिभा अपना नियम आप बना लेती है। परन्तु प्रतिभा की सृजन-शक्ति में और असयतों की उच्छृङ्खलता में भेद है। इसी से साहित्य में मर्मज्ञों की आवश्यकता है और इसी आवश्यकता की पूर्ति द्विवेदी जी ने की थी।

(२)

जो युग के प्रवर्तक होते हैं उन्हे सबसे पहले लोक-रुचि को परिष्कृत करना पड़ता है। समाज की एक विशेष बौद्धिक अवस्था के अनुसार समाज की एक विशेष रुचि होती है। मध्य-युग में भक्तिभाव का प्राबल्य होने पर जो सगुणोपासना आरम्भ हुई, उसी के कारण रीतिकाल मे शृंगार-रस, नायिका-भेद, और नख-शिख वर्णन की ओर लोगों की रुचि बढ़ी। भारतवर्ष के लिए वह अन्धयुग था। शिक्षा का प्रचार रुक गया था। लोगों मे अन्धविश्वास और अन्धभक्ति अधिक होने के कारण ज्ञान के लिए अधिक आग्रह नहीं था। जाति में अवसाद था। आत्मशैथिल्य था, इसी लिए कल्पना के माया-लोक में कल्पित नायक और नायिका की प्रेमलीला से ही उन्हें मनस्तुष्टि होती थी। भारतेन्दुजी ने हिन्दी-गद्य-साहित्य में नवयुग का दर्शन तो अवश्य कराया, पर पद्य-साहित्य में मध्ययुग के आदर्श ही उन्होंने स्वीकृत किये।

ब्रजभाषा में एक तो स्वाभाविक माधुर्य है और फिर ब्रजभाषा के कवियों ने उसे अलङ्कारों से सजाकर एक ऐसा मनोमोहक रूप प्रदान कर दिया है कि वह मूर्तिमती कविता ही हो गई है।

यमक और अनुप्रास की छटा में भाव का विकृत रूप हो गया था। पर लोग यही समझ रहे थे कि कविता के लिए

एकमात्र ब्रजभाषा ही उपयुक्त है। गद्य और पद्य की भाषा एक हो नहीं सकती। द्विवेदीजी ने बोलचाल की भाषा में स्वयं कविताएँ लिखीं और उसी का पक्ष समर्थन किया। श्रीधर पाठकजी ने गोल्डस्मिथ की एक कविता का पद्यात्मक अनुवाद बोलचाल की भाषा में किया। द्विवेदीजी ने भी उसी भाषा में कुमार-संभव-सार लिखा। खड़ी बोली की इस प्रधानता से हिन्दी के काव्य-साहित्य में वस्तुवाद की प्रतिष्ठा हुई। कल्पना का माया-लोक टूट गया और राष्ट्रीय और सदुपदेशपूर्ण कविताओं का प्रचार बढ़ने लगा।

समाज में जैसा अन्ध-विश्वास प्रबल होता है, वैसा अन्ध-भक्ति-भाव भी प्रबल होता है। उस अन्ध-भक्ति-भाव के ऊपर आघात होते ही समाज विक्षुब्ध, विचलित हो उठता है। परन्तु समाज का यह विक्षोभ उसके लिए श्रेयस्कर होता है, क्योंकि तभी हम सत्य की परीक्षा के लिए उत्कण्ठित होते हैं। सत्य वही है जो तर्क का आघात सह लेता है। पर तर्क जब हम लोगो की चिर-कालीन बद्ध-मूल धारणाओं को भी भ्रमपूर्ण सिद्ध करने के लिए प्रयत्न करता है, उस समय हमें वह सहन नहीं होता। पर समालोचना की उपयोगिता उसी मे है। द्विवेदी जी ने समय समय कुछ ऐसे लेख लिखे है जिनके कारण हिन्दी-साहित्य में एक आँधी सी आ गई है। पर उन्हीं आँधियो के कारण हिन्दी मे सुरुचि का प्रचार हुआ है। जब तक हम लोग सत्य को साग्रह स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं तब तक हम लोग उन्नति कर ही नहीं सकते। अपने दोषो की ओर आँख मूँद लेने से हमारी उन्नति की गति अवरुद्ध हो जायगी। पर उन समालोचनाओं से क्या लाभ जो साहित्य में नये आदर्शों की सृष्टि नहीं करती। इसी लिए अपने अठारह वर्ष के सम्पादन-काल मे द्विवेदीजी ने सरस्वती में क्या विदेशी और क्या स्वदेशी

सभी श्रेष्ठ साहित्य-कला-कोविदों और कलाकारों के परिचय प्रकाशित किये हैं। यही नहीं, उन्होंने सर्व-साधारण की ज्ञान-वृद्धि के लिए सभी प्रकार के उपयोगी विषयों पर लेख लिखे हैं। द्विवेदी जी के जीवन का लक्ष्य था जन-समाज की सेवा। उन्होंने जो कुछ लिखा है जन-समाज के लिए लिखा है। लोगों में शिक्षा का प्रचार हो, उनके ज्ञान की वृद्धि हो, सत्साहित्य की ओर उनकी प्रवृत्ति हो, वे अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों को पहचानें, इसी उद्देश्य से वे लेख लिखते थे। वे कला के लिए कला के उपासक नहीं थे। जो जीवन के लिए श्रेयस्कर नहीं है, ऐसी कला में वे किसी प्रकार का सार नहीं देखते थे। वे तुलसी और सूर के उपासक थे, देव और मतिराम के नहीं। उनके सम्पादन-काल में सरस्वती में एक भी ऐसा लेख नहीं प्रकाशित हुआ, जिसका समाज पर बुरा प्रभाव पड़े। ऐसे विज्ञापनों को भी वे सरस्वती में प्रकाशित नहीं होने देते थे, जिनमें किसी प्रकार की अश्लीलता हो। सरस्वती के द्वारा द्विवेदी जी ने हिन्दी-साहित्य में सुरुचि का प्रचार किया और साहित्य के क्षेत्र को खूब विस्तृत किया। हिन्दी में अभी किसी भी विषय पर यदि कोई लेखों का संग्रह करना चाहे, तो उसे सरस्वती का ही आश्रय लेना पड़ेगा। अधिकांश सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ, कविताएँ, समालोचनाएँ आदि रचनाएँ उसी से निकली हैं।

(४)

मैं सरस्वती के उन भक्त पाठकों में से हूँ जिन्होंने सरस्वती के पहले अङ्क से लेकर आज तक के सभी अङ्कों का खूब मनोयोग से अध्ययन किया है। अपने सौभाग्य से मुझे कुछ वर्षों तक सरस्वती में काम करने का अवसर भी मिल गया और सात-आठ

महीने तक मैं द्विवेदी जी का सहकारी रहा। द्विवेदी जी सम्पादन-कला में कितने दक्ष थे, इसके लिए मेरे समान लोगों को अपनी सम्मति देने की आवश्यकता नहीं है। द्विवेदी जी की सबसे बड़ी विशेषता उनकी कार्य-तत्परता थी। वे अपने कार्य में इतने साव-धान थे कि एक भी भूल उन्हें क्षम्य नहीं थी। प्रूफ की भूलों को वे सहसा क्षमा नहीं करते थे। एक बार सरस्वती के किसी अङ्क में पुराने कवरों पर चिट लगाकर उन्हें काम मे लाने की आवश्य-कता पड़ गई। द्विवेदीजी के लिए एक भूल भी अक्षम्य थी। उन्होंने इस सम्बन्ध मे ख़ूब डाँटकर पत्र लिखा था। सरस्वती के पाठकों के मनोरञ्जन और ज्ञान-वृद्धि के लिए अँगरेजी, बङ्गाली, गुजराती, मराठी आदि कई भाषाओं के पत्रों से सामग्री सङ्कलित की जाती थी। द्विवेदीजी जो कुछ लिखते थे उसकी सामग्री यदि उन्होंने किसी अन्य पत्र से ली उस मूल लेख या नोट को भी काट-कर अपने लेख के साथ भेजते थे। रिव्यू आव रिव्यूज़, माडर्न-रिव्यू, प्रवासी और लीडर उन्हें विशेष प्रिय थे। गवर्नमेंट गजट और रिपोर्टों को वे ख़ूब ध्यान से पढ़ते थे और प्रति मास दो-चार नोट उन्हीं के आधार पर निकालते थे। उनसे देश की आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक स्थितियों की वे मार्मिक आलोचना करते थे। साहित्य और शिक्षा का भी सूक्ष्म विवेचन रहता था। ऐतिहासिक और पुरातत्त्व-सम्बन्धी विषयों की भी चर्चा वे किया करते थे। द्विवेदीजी के ये नोट बड़े ही काम के हैं। मेरा तो यह विश्वास है कि अँगरेजी में जिस प्रकार अपने-अपने युग की विशेषता बतलाने के लिए Paston letters या फाक्स और वेसली के Journal हैं, उसी प्रकार इस युग के बौद्धिक विकास का दिग्दर्शन हमें उन्हीं नोटों में होता है। इसी से मैंने पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल से कहा कि जब द्विवेदीजी अपने सब लेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित करा लें, तब मेरी इच्छा

के अनुसार वे अपने नोटों का भी एक संग्रह प्रकाशित करावें। उन्होंने मेरी बात मान ली और अपने कुछ नोटों का एक संग्रह प्रकाशित कराया भी। यदि मेरी सम्मति का कुछ मूल्य हो, तो मैं यही कहूँगा कि ये नोट हिन्दी की स्थायी सम्पत्ति हैं। द्विवेदीजी की यथार्थ विशेषता इन्हीं नोटों से प्रकट होती है।

द्विवेदीजी गये और उनके साथ एक युग का भी अन्त हो गया। उन्होंने साहित्य की एक मर्यादा स्थापित कर दी थी और कविता का एक आदर्श निश्चित कर दिया था। उन्होंने साहित्य को जन-समाज से कभी पृथक् न होने दिया। गम्भीर से भी गम्भीर विषयों पर लेख प्रकाशित हुए, पर वे सभी सर्वसाधारण के लिए सुपाठ्य और सरल थे। उनके काल में जो कहानियाँ प्रकाशित हुईं उनमें यथार्थ जगत् के चित्र थे, पर कला के नाम से समाज की वीभत्स लीलाएँ उनमें अङ्कित नहीं हुईं। कविताओं में भी सरलता के साथ सरसता थी और उनमें असंयत कल्पना नहीं आने पाई। उन्होंने सर्वत्र भाषा और भाव दोनों की विशुद्धि पर ध्यान दिया, इसी लिए उनका युग सुरुचि और सुशिक्षा का युग था।

द्विवेदी जी हिन्दी साहित्य में केवल ज्ञान का द्वार उन्मुक्त करके ही नहीं रुक गये, उन्होंने सच्चे सेवक की तरह हिन्दी साहित्य के मन्दिर को कलुषित होने से बचाया, उन्होंने हिन्दी-साहित्य को सदा उच्च आदर्श पर रखने की चेष्टा की। क्या भाषा और क्या भाव कहीं भी उन्होंने विकार नहीं आने दिया। जहाँ उन्होंने भाषा या भाव सम्बन्धी कालुष्य देखा, वहीं उसका विरोध किया, फिर चाहे उसका प्रवर्तक कितना ही बड़ा साहित्य-सेवी या विद्वान् क्यों न हो। असत्य का उन्होंने सदा मूलोच्छेद ही किया, साहित्य में सस्ती कीर्ति लुटानेवालों के लिए उन्होंने जगह ही नहीं रक्खी, इसी लिए उनके सम्पादन-काल में समस्त हिन्दी-

साहित्य पर आतंक-सा छाया हुआ था। लेखक भी सावधान थे, और प्रकाशक भी सावधान थे। सभी अपने मन में यह बात समझते थे कि हिन्दी-साहित्य पर किसी निरीक्षक की दृष्टि लगी हुई थी, जो किसी के साथ पक्षपात नहीं करता। द्विवेदीजी के इस प्रभाव के कारण हिन्दी-साहित्य उन्नति के पथ पर अग्रसर होता रहा। खेद यही है कि साहित्य-क्षेत्र से उनके हट जाने के बाद कोई दूसरा उनका स्थान नहीं ले सका।

यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदीजी ने क्या किया, तो मैं उसे समग्र आधुनिक साहित्य दिखलाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है। कुछ लेखक ऐसे होते हैं, जिनकी रचना पर ही उनकी महत्ता निर्भर है। कुछ ऐसे होते हैं, जिनकी महत्ता उनकी रचनाओं से नहीं जानी जा सकती। द्विवेदीजी की साहित्य-सेवा उनकी रचनाओं से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव समग्र साहित्य पर पड़ा है। मेघ की तरह उन्होंने विश्व से ज्ञान-राशि संचित कर और उसकी वर्षा कर समग्र साहित्योद्यान को हरा-भरा कर दिया। वर्तमान साहित्य उन्हीं की साधना का सुफल है।

सुमित्रानन्दनपन्त

(आधुनिक कविता का विकास)

(१)

गत पचीस वर्ष के भीतर हिन्दी के काव्य-क्षेत्र में बड़ा परिवर्त्तन हुआ है। इस परिवर्त्तन को तुम्हें स्पष्ट करने के लिए मैं यहाँ चार कवियों की चर्चा करता हूँ। आधुनिक हिन्दी-कवियों में सबसे अधिक प्रसिद्धि बाबू मैथिलीशरण गुप्त की है। उन्हीं की रचनाएँ सबसे अधिक लोकप्रिय हैं। उनके कारण उनका जन्म-स्थान चिरगाँव (झाँसी) भी प्रसिद्ध हो गया है। आधुनिक युग की सभी भावनाएँ उनकी कृतियों में विद्यमान हैं। देश-भक्ति, आत्म-सुधार, स्वावलम्बन, विश्व-प्रेम, उच्चादर्श, देशाभिमान और स्वधर्मानुराग—यही सब भाव उनकी कविताओं में मूर्त्तिमान हैं।

अपने कविता-काल के प्रारम्भ से लेकर आज तक गुप्तजी सभी प्रकार के पाठकों में लोकप्रिय बने हुए हैं। पहले-पहल ब्रज साहित्य के कल्पनोन्माद के विरुद्ध जो एक प्रतिक्रिया आरम्भ हुई वह सबसे प्रथम मैथिलीशरणजी की रचनाओं में ही बिलकुल स्पष्ट हुई है। उनकी 'भारत-भारती' में देश का यथार्थ चित्रण हुआ है। इसके बाद पौराणिक कहानियों को लेकर उन्होंने जो काव्य-कथाएँ लिखीं, उनमें सर्वत्र मानवीय भावों की ही प्रधानता रही। तुलसीदास ने संसार में भगवान् का दर्शन कराया, मनुष्य-जीवन में देवत्व का प्रदर्शन किया। गुप्तजी की यह विशेषता है कि उन्होंने देवों में मानवीय भावों की प्रतिष्ठा की। मनुष्यों की समस्त दुर्बलताएँ और क्षमताएँ उनके देव-तुल्य पात्रों में

प्रकट हुई हैं। 'साकेत' की लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण यही है। उसमें उर्मिला की गूढ़ व्यथा, सीता का प्रेम, राम और लक्ष्मण की स्नेह-जन्य दुर्बलता—ये सब ऐसी बातें हैं, जो गुप्तजी-के पात्रों को हमारे अत्यधिक निकट ला देती हैं। रामचरित-मानस-में सीता का जो अलौकिक प्रेम और रामचन्द्र का जो अचिन्त्य स्वरूप अङ्कित हुआ है, वह पाठकों के लिए अनधिगम्य है। राम और सीता उनके आराध्यदेव हैं—उनसे उनके हृदय में आतङ्क, विस्मय और भक्ति का उद्रेक हो सकता है। किन्तु गुप्तजी के चरित्र-चित्रण की यह विशेषता है कि इन्हीं पात्रों से पाठकों के हृदय में सह-वेदना और सहानुभूति के भाव जाग्रत होते हैं।

आधुनिक युग में सत्य की परीक्षा आरम्भ होने पर लोग अपने अन्तर्जगत् की यथार्थ परीक्षा करने के लिए उद्यत हुए, तब उन्होंने वहाँ एक अतीन्द्रिय जगत् का आभास पाया। वह जगत् अस्पष्ट रहने पर भी उतना ही यथार्थ है, जितना कि बाह्य जगत्। उसके प्रभाव का हम लोग अपने जीवन में अनुभव करते रहते हैं। जिस प्रकार अतीत काल के चरित्र जीवन पर अक्षय प्रभाव डालते हैं, उसी प्रकार हम लोग अपने जीवन में यह भी अनुभव करते हैं कि हम जो कुछ देख रहे हैं, उसी में हमारा अन्त नहीं है। इसके अतिरिक्त भी हमारा एक जीवन है और उस जीवन का सम्बन्ध हमारे वर्तमान जीवन से है। इसी रहस्यमय जीवन को स्पष्ट करने के लिए हिन्दी में वस्तुवाद के विरुद्ध जो एक प्रतिक्रिया आरम्भ हुई, वह कवियों की रचनाओं में छायावाद के नाम से प्रकट हुई। लोग मानो यथार्थ जगत् की सीमाबद्ध मानव-लीला से विरक्त होकर किसी असीम या अनन्त जीवन की प्राप्ति के लिए व्यग्र हो उठे। यह व्यग्रता छायावाद की रचनाओं में प्रकट हुई है। गुप्तजी की रचनाओं में भी हम उस भाव का पूर्वाभास पाते हैं, जो पीछे से छायावाद का नाम

ग्रहण कर थोड़े ही दिनों में हिन्दी के वर्त्तमान कवियों में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तजी की कविताओं में जहाँ एक ओर देश की उच्चतम आकांक्षा की ध्वनि है, वहाँ दूसरी ओर नवयुग की सभी भावनाएँ भी स्थान पा चुकी हैं।

सियारामशरण गुप्त हिन्दी के प्रख्यात कवि मैथिलीशरण गुप्त के अनुज हैं। उन पर गुप्तजी का विशेष प्रभाव पड़ा है। उनकी शैली और भाषा तो गुप्तजी की शैली और भाषा का ही आभास देती हैं; परन्तु दोनों की विचार-धाराओं और काव्य-वस्तु में बड़ी विभिन्नता है। मैथिलीशरण गुप्त ने विषय की महत्ता पर सदैव ध्यान दिया है। उनके काव्य-नायकों के चरित्र उदात्त हैं, काव्य-वस्तु महत् है और उनका काव्य-क्षेत्र भी अत्यन्त विस्तृत है। सियारामशरण जी ने सर्वसाधारण के दैनिक जीवन को ही अपनी कविता के लिए उपयुक्त समझा है। सुख-दुःख की जो घटनाएँ हमारे जीवन में प्रतिदिन होती रहती हैं, भावों के जो घात-प्रतिघात हम लोगों को विक्षुब्ध करते रहते हैं, आशा-निराशा, संयोग-वियोग, उत्थान-पतन की जो लीलाएँ हमें मोह-जाल में फँसाए रखती हैं, वे सभी उनके वर्णनीय विषय हैं। उनकी कहानियों और नाटकों में भी हम यही बात पाते हैं। कवि द्रष्टा कहे जाते हैं; परन्तु सियारामशरणजी ऐसे दर्शक हैं, जो कभी भी तटस्थ या विरक्त नहीं रह सकते। उनका हृदय सदैव उन घटनाओं से द्रवीभूत होता रहता है, जिनका वे वर्णन करते हैं। उनकी रचनाओं में उनका यह उद्वेग, उनका यह क्षोभ बिलकुल स्पष्ट लक्षित होता है। मैथिलीशरण गुप्त अतीत और वर्त्तमान के चित्र प्रदर्शित कर हमें भविष्य का सङ्केत कराते हैं। उनकी वाणी में आशा और विश्वास की दृढ़ता है। उनमें गम्भीरता और स्थिरता है; पर सियारामशरणजी की रचनाओं में एक अधैर्य

है, असहिष्णुता है, असन्तोष की तीव्र भावना और विद्रोह है। उनकी गणना आधुनिक क्रान्तिकारी कवियों में अवश्य नहीं की जा सकती; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनकी रचनाओं में वह अशान्ति अवश्य है जो क्रान्ति का पूर्वाभास देती है।

'प्रसाद' जी प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार थे। उनकी शैली उन्हीं की शैली है। उनके सभी ग्रन्थों मे एक विशेष प्रकार की मौलिकता निहित है, जिस पर 'प्रसाद' जी के व्यक्तित्व की पूरी-पूरी छाप है। लोगो ने कितने ही कवियो का अनुकरण किया है; पर 'प्रसाद' जी का अनुकरण कोई नहीं कर सका। उनकी भाषा संस्कृत-मिश्रित अवश्य है; परन्तु उसमें एक विशेष ओज और आकर्षण है। अपने भावों की मौलिकता, शैली की नवीनता और भाषा की विशेषता के कारण वे पहले लोकप्रिय नहीं हुए। उनकी लोकप्रियता तब बढ़ी, जब लोगों ने उनकी कृतियों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया। उनके सर्वश्रेष्ठ काव्य 'कामायिनी' पर उन्हे 'मगलाप्रसाद-पारितोषिक' मिला भी, तो मृत्यु के बाद।

'प्रसाद' जी की सृजन-शक्ति भी अपूर्व थी। उन्होंने कविताएँ लिखीं, कहानियाँ लिखीं और नाटक तथा उपन्यास भी रचे। इन सब मे उनकी अपूर्व सृजन-शक्ति विद्यमान है। वे हिन्दी के एक मात्र ऐतिहासिक नाटककार कहे जा सकते है। उनके नाटको मे ऐतिहासिक वातावरण बड़ी कुशलता से निर्मित किया गया है। उनके पात्र इतिहास के नर-कङ्काल नहीं हैं, अतीत युग के सजीव चरित्र है। उन्होंने अपनी कथाओं में समाज का यथार्थ चित्र अङ्कित करने का प्रयत्न नहीं किया, इसके विपरीत अपनी विशिष्ट भावना के अनुसार एक औपन्यासिक संसार की रचना कर उसमें भिन्न-भिन्न पात्रों के मानसिक जगत् का अन्तर्द्वन्द्व दिखलाया है। उनका कोई भी पात्र ऐसा नहीं है, जिसे हम अपना परिचित साथी समझ सके। पाठकों के लिए वे सभी

अपरिचित व्यक्ति के समान हैं। पर ऐसे पात्रों के प्रति भी पाठकों के हृदय में सहवेदना का भाव जाग्रत् करने में 'प्रसाद' जी सफल हुए हैं और यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है।

सुमित्रानन्दन पन्त अल्मोड़ा के निवासी हैं। हिन्दी के वहीं एक ऐसे कवि हैं, जिनकी यथार्थ शिक्षा प्रकृति देवी की गोद में हुई है। बाल्यकाल से लेकर आज तक वे प्रकृति की उपासना में निमग्न हैं। उनकी कविता के प्रवाह में हम पर्वत की निर्झरिणी की गति देखते हैं। उनकी रचनाओं में वही कोमलता, वही स्निग्धता वही मधुरता और वही उच्छृङ्खलता है, जो हम प्रकृति में सहज ही पाते हैं। 'पन्त' जी ने अपने लिए नए छन्दों की रचना की, नई उपमाओं की सृष्टि की और एक नया ही पथ खोज निकाला। उनकी भाषा भी उनकी कल्पना के उपयुक्त है—उसमें मधुरता है, सुकुमारता है और चिप्रगति है। शब्दों के चयन में उन्होंने कौशल दिखाया है।

मुझे स्मरण है कि १९२० में इलाहाबाद के जैन-बोर्डिंगहाउस में एक कवि-सम्मेलन का आयोजन किया गया था। उसके सभापति थे पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय। उस सम्मेलन में 'पन्त' जी ने जब अपनी कविता पढ़ी, तब सारी उपस्थित जनता मुग्ध हो गई। उपाध्यायजी ने उन्हें माला पहनाई। उस समय पन्तजी सोलह वर्ष के रहे होंगे। उनके स्वर में जो माधुर्य था, वही माधुर्य उनकी रचना में था। उनमें जो सुकुमारता और सुन्दरता थी, वही उनकी भाषा में थी। इसके पहले उनकी एक कविता प्रकाशित भी हो गई थी। उस दिन मुझे ऐसा जान पड़ा था कि पन्तजी ने अपनी भाषा के इन्द्रजाल में सब लोगों को वशीभूत कर लिया है। मैं विज्ञ की तरह सिर हिलाकर अपने को उस इन्द्रजाल से बचाना चाहता था। मैंने कहा कि शब्दों के अर्थ-हीन सौन्दर्य में क्या रखा है। तब 'पन्त' जी ने मुझको 'कलरव'

नाम की कविता दी। नदी की कलरव-ध्वनि, पत्तों की मर्मर-ध्वनि और खगों के कलरव में जो रमणीयता और सुन्दरता है, वही उन्होंने अपनी उन तीन कविताओं में व्यक्त कर दी थी। मैं निरुत्तर हो गया; पर उनकी कविता के इस इन्द्रजाल से बचने के लिए मैं और भी अधिक प्रयत्न करने लगा। एक दिन उन्होंने मुझको 'मौन-निमन्त्रण' और 'शिशु' नामक कविताएँ सुनाईं, और उन्हें सुनकर मैं अवाक् रह गया। उसी दिन से मैं उनका भक्त-अनुचर हो गया। आज हिन्दी की जो पाँच पुस्तकें मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं, उनमें एक पन्तजी का 'पल्लव' है।

कहा जाता है कि 'गुञ्जन' में 'पन्त' जी जीवन-क्षेत्र के भीतर अधिक प्रविष्ट हुए हैं। उनकी काव्य-शैली भी उसमें अधिक संयत और गम्भीर है। 'गुञ्जन' के सम्बन्ध में स्वयं कवि ने लिखा है कि वह प्राणों की उन्मन गुञ्जन है। यौवन-काल के औत्सुक्यपूर्ण, लालसा पूर्ण भावों का उद्गार उसमें है। युवा-वस्था में जो आवेश आता है, उसमें जीवन की मधुरता पाने के लिए जो आतुरता रहती है, उसकी इसमें अभिव्यक्ति हुई है। संसार में वेदना है; परन्तु उसी वेदना को सहने से हृदय कोमल होता है, उसमें उज्ज्वलता आती है, उसी से वह संसार से आत्मीयता स्थापित कर लेता है। स्वार्थ की क्षुद्र सीमा से उसे छुटकारा मिल जाता है। तब समस्त विश्व से वह सम्बन्ध जोड़ लेता है। संसार में जो सुख-दुःख के भाव होते रहते हैं, उन सबको वह अपना लेता है। अकेले में वह शून्यता का अनुभव करता है; परन्तु जब वह अपने जीवन को विश्व के जीवन में मिला देता है, तब वह सार्थकता प्राप्त करता है और सुख का अनुभव करता है। संसार में सुख-दुःख का मिलन आनन्द से रहित नहीं है। सुख-दुःख दोनों को समान भाव से ग्रहण करने में ही माधुर्य है। ऐसा कोई नहीं है, जिसके हृदय में सुख

के फूल के साथ दु:ख के काँटे न हों। परन्तु इसी सुख-दु:ख में संसार का जीवन है। दु:ख को आनन्द-रहित नहीं समझना चाहिए, क्योंकि दु:ख के आस्वादन करने पर ही हमें आनन्द का अनुभव होता है। जैसे अन्धकार के बाद प्रकाश होता है, वैसे ही दु:ख के बाद सुख भी होता है। सुख और दु:ख दोनों अस्थिर हैं। जीवन ही नित्य है। काँटों में रहकर ही फूल खिलते हैं। अग्नि में जलकर ही सोना उज्ज्वल होता है। दावाग्नि से जल जाने पर वन में मेघ की वृष्टि होने पर नए अङ्कुर उठते हैं, उसी प्रकार दु:ख में भी हमको सुख छिपा हुआ मिलता है। हमें सुख द्वारा दु:ख को अपनाना चाहिये। मिथ्या पीड़ा से हम लोग प्रतिपल व्याकुल होते हैं। जीवन में हम तरह-तरह की इच्छाएँ करते हैं। वे इच्छाएँ मन में ही प्रकट होती हैं और मन में ही विलीन हो जाती हैं। इन इच्छाओं से हमारे अभीष्ट साधन में बाधा होती है। समभाव से सुख और दु:ख दोनों को ग्रहण करने की इच्छा ही आत्म-तत्त्व प्राप्त करने का साधन है। मनुष्य जब सचराचर विश्व को अपना लेता है, तब वह सुख प्राप्त करता है। जब तक वह विश्व से यह सम्बन्ध नहीं जोड़ लेता, तब तक उसे मानव-जीवन अपूर्ण लगता है। सचराचर विश्व में जीवन की जो धारा बह रही है, उसी में मनुष्य को उल्लास का अनुभव होना चाहिए। तभी वह प्रकृति की सभी लीलाओं में आनन्द का अनुभव कर अपने को सुखमय बना डालेगा। विश्व में छोटी-से-छोटी वस्तु भी उपेक्षणीय नहीं है। छोटे-छोटे जल-कणों से समुद्र बनता है। छोटे-छोटे अणुओं से विश्व की रचना हुई है। जो छोटा है, वही बढ़कर बड़ा हो जाता है। संसार में सर्वत्र सौन्दर्य है, सर्वत्र आनन्द है। हमें विश्व के प्रति सहानुभूति ही होनी चाहिए। हमें फूल की तरह अपना सौरभ संसार में फैला देना चाहिए। एक क्षुद्र सीमा में

बद्ध न रहकर अनन्त की ओर अग्रसर होना चाहिए। उसी अनन्त में लीन हो जाने पर हम जीवन का यथार्थ आशय समझ जावेंगे। यही कवि के 'गुञ्जन' का आशय है।

सभी देशों और सभी कालों में मनुष्यो ने अपनी सौन्दर्य-भावना, विस्मय और प्रेम को अप्सरा के रूप मे प्रकट किया है। कथाओं में अप्सरा किसी-न-किसी को मोह मे और प्रेम में डालने के लिए प्रकट होती है। सभी बच्चे अपने शैशव-काल में अपनी माताओं से इसी अप्सरा की कथा सुना करते हैं, और तब उनके हृदय मे उसी अप्सरा के सम्बन्ध मे किसी रूप-राशि की कल्पित मूर्त्ति प्रकट हो जाती है। यौवनावस्था में वे अपनी प्रियतमा को इसी कल्पित अप्सरा के रूप मे देखते हैं। कहा जाता है कि अप्सरा इन्द्रलोक मे नाचती है। देवों की सभा में वह न जाने कितनो को अपने कटाक्षों से चञ्चल करती है। मेघों में जो बिजली चमक जाती है, वही कदाचित् उसके कटाक्षों का आभास देती है। आकाश मे जो इन्द्रधनुष उदित होता है, उसी से उसके वस्त्र की छवि का अनुमान किया जा सकता है। नीले आकाश में चन्द्रमा उसकी वेणी के फूल की सुधि दिलाता है। स्वर्ग-गङ्गा मे वह जल-विहार करती है। वहाँ हंसों के समान चन्द्र की प्रतिच्छायाएँ जल की तरगो में तैरती हुई-सी मालूम होती होंगी। उसी के फेनो के कण मानो तारे बन गए हैं। उसी की देह की कान्ति कमलों के समान चञ्चल तरङ्गो मे प्रतिबिम्बित होती है। वह बादल पर चलती है। चन्द्रमा मे जो मृग का बच्चा है, उसे वह गोद में लेकर मानो इन्द्रधनुष के पुल पर से चलकर आकाश को पार करती है। स्वर्ग की यह कल्पित अप्सरा पृथ्वी पर युवती के रूप में अवतीर्ण होती है। युवती जो कटाक्ष करती है, उसकी शिक्षा मानो वह उसी से पाती है। कल्पना में कवियों ने इसी रूप-राशि का निर्माण किया है। वह रूप-राशि सबसे अलक्षित है,

परन्तु विश्व में व्याप्त है। संसार में जहाँ कहीं सुन्दरता, सुकुमारता और विशदता है, वहीं उसका अस्तित्व है। तितलियों के पंख, चन्द्रमा की किरणों से प्रतिबिम्बित शीत-बिन्दु, अस्फुटित कली, चञ्चल तरङ्ग या अविकसित कमल में उसकी वास है। अन्धकार में उसी के केश की श्यामता है। लहरें उसी के हार हैं। फूलों की लालिमा में उसी के पद-पद्म की शोभा है। बर्फ से आच्छादित पहाड़ों में उसी के देह की कान्ति है। उषःकाल की ललिमा उसी के चर्म की ललिमा है। चन्द्रमा की ज्योति से उद्भासित मेघ मानो उसी के पर हैं। तारों का कम्पन मानो उसी के हृदय का स्पन्दन है। सौन्दर्य की वह भावना चिरकाल से विद्यमान है। वह कभी बन्द नहीं हुई, वह कभी क्षीण नहीं हुई। प्रत्येक युग में सौन्दर्य की भावना में नवीनता आ जाती है। इस प्रकार किसी-न-किसी रूप में उस रूप-राशि का दर्शन हम लोग करते ही हैं। क्या मनुष्य, क्या देवता, क्या ऋषि, सभी प्रकार के लोगों के लिए यह रूप आकर्षक है। मनुष्यों की सभी इच्छाएँ उसमें लीन हैं। सुख-दुःख, पाप-पुण्य, सभी में उस रूप राशि की विद्यमानता है और उसका कभी अन्त नहीं होने का। जब तक संसार में सौन्दर्य है, तब तक सौन्दर्य को मूर्त्तिमती बनाकर अप्सरा के रूप में हम देखेंगे ही।

मेरी समझ में तो 'पन्त'जी की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी यही अप्सरा-सी कल्पना। अपने जीवन के प्रारम्भ-काल में उन्होंने संसार को रहस्यमय देखा, किन्तु उस रहस्य का उद्घाटन करने के लिए उन्होंने ज्ञान का आश्रय नहीं लिया। एकमात्र कल्पना से ही उन्होंने संसार को समझने की चेष्टा की। उन्हें विस्मय हुआ, आतङ्क हुआ, आनन्द हुआ, मोह हुआ। पर इन सभी भावों के उद्रेक से वे प्रकृति के और भी अधिक समीप हो गए। प्रकृति उनके लिए जड़ वस्तु नहीं, सुन्दरता की सजीव

देवी है, जो उनकी सहचरी होकर सदैव उनके साथ बनी रहती है। प्रकृति के इस जीवन से पृथक् होकर 'पन्त'जी ने जो-कुछ भी लिखा है, उसमें न भावों की वह सुकुमारता है और न कल्पना की वह नवीनता। 'पन्तजी' यथार्थ जगत् के कवि नहीं। जीवन-सङ्घर्ष से उनका कोई प्रयोजन नहीं। संसार की समस्या उनके लिए नहीं। आत्म-चिन्तन उनका काम नहीं। वे तो प्रकृति के कवि है—कल्पना उनका क्षेत्र है और सौन्दर्य उनका राज्य।

चर्चा

पहला दिन

एक दिन महेश बाबू ने हिन्दी की तीन-चार कथा-पुस्तकें मेरे सामने फेंककर कहा, "मुझे तो आप लोगों के कथा-साहित्य से विरक्ति हो गई है। कुछ समझ में नहीं आता आप लोग किस उद्देश्य से किस महत् आकांक्षा से प्रेरित होकर हिन्दी में पुस्तकों की यह उच्च राशि निर्मित कर रहे हैं ? क्या केवल पुस्तकों का ढेर बनाकर आप लोग आकाश छूना चाहते हैं ?"

महेश बाबू की यह वक्रोक्ति सुनकर मैं चुप रह गया। हिन्दी-साहित्य का एक क्षुद्र सेवक होने के कारण मुझे समय-कुसमय महेश बाबू की ऐसी वक्रोक्तियाँ सुननी ही पड़ती हैं। महेश बाबू हैं विज्ञान के आचार्य। अस्तु, साहित्य से उन्हें योंही विरक्ति है। पर आज उन्हें इतनी चिढ़ क्यों हो गई, यह मैं नहीं जान सका। रमेश बाबू ने मेरी ओर हँसकर उत्तर दिया, "महेश बाबू हिन्दी-साहित्य का निर्माण आपके समान उच्च कोटि के विद्वानों द्वारा नहीं हो रहा है। इसके सेवक अभी तक अल्पाति अल्प योग्यता के ही व्यक्ति हैं, इसलिये यदि आप हिन्दी-साहित्य में पाश्चात्य साहित्य का-सा कला-नैपुण्य देखना चाहते हैं तो आपको हताश होना ही पड़ेगा। हिन्दी-साहित्य अभी विद्वानों के लिये नहीं है अभी वह जनता का ही साहित्य है। यह सच है, कि 'आपरितोषात् विदुषाम् न साधुमन्ये प्रयोगविज्ञानम्'; परन्तु इतना तो आपको भी स्वीकार करना पड़ेगा कि साधारण मनुष्य

की मनस्तुष्टि के लिए यदि कुछ उद्योग किया जा रहा है तो वह बुरा नहीं है।"

महेश बाबू ने कहा—"इसी लिए तो मुझे हिन्दी-साहित्य के इन सेवकों से चिढ़ हो रही है। अन्य उन्नत भाषाओं के साहित्य-कारों की अपेक्षा इन लोगों का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। बात यह है कि इन लोगों को अभी सर्वसाधारण की रुचि परिष्कृत करना है, उनको शिक्षित करना है और उनको सत्साहित्य की ओर प्रेरित करना है, पर इसके विपरीत ये लोग उनकी रुचि विकृत कर रहे हैं, उन्हें यथार्थवाद के नाम से अत्यन्त घृणित वस्तुएँ दे रहे हैं। सत्य को विकृत कर, कल्पना को असंयत कर ये लोग जिन कथाओं का प्रचार कर रहे हैं उन्हें पढ़कर मुझे तो बड़ी ग्लानि हो रही है।"

मैंने कहा—"महेश बाबू, आप एक बात भूल जाते हैं। कथा-साहित्य की समीक्षा उपयोगिता की दृष्टि से नहीं की जा सकती। वह एक मात्र आनन्द के उपभोग के लिये निर्मित होता है।' यदि आप कथाओं में ऐतिहासिक महत्त्व, सामाजिक आदर्श या नैतिक तत्त्व उपलब्ध करना चाहते हैं तो आप कथा के यथार्थ रस को नष्टकर उसके बाह्य उपकरण पर ही आकृष्ट हो रहे हैं। कथाकार ने यदि अपनी कथा में मानवीय भावों के उत्थान-पतन का प्रदर्शन करा दिया तो उसका प्रयास सफल हो गया। कब किस घटना से किस मनुष्य के जीवन में सुख-दुख की कैसी तरङ्गें उठीं और उन तरङ्गों के कारण उसके जीवन की गति किस ओर निर्दिष्ट हुई इसी की ओर कथाकार का ध्यान रहता है!

रमेश ने कहा, "यह बात सच है। आशा-निराशा, संयोग-वियोग, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व भावों को लेकर ही मनुष्य अपने जीवन को इन्द्रधनुष की तरह बहुवर्ण-रञ्जित बना डालता है। कथाकार के लिये मनुष्य का यही जीवन एक रहस्यागार है।

इसी को लेकर न जाने कब से लोग मनुष्य-जीवन के सम्बन्ध में एक से एक विलक्षण कथाएँ कहते आ रहे हैं, पर इस कौतुकागार की अभी तक इति नहीं हुई है।"

महेश ने कहा, "मैं कथा-साहित्य का विरोधी नहीं हूँ। मैं जानता हूँ कि मनुष्य-जीवन पर कथा-साहित्य का कितना अधिक प्रभाव पड़ता है। मनोरञ्जन का साधन होने के कारण ही कथा-साहित्य की ओर सभी तरह के पाठकों का अनुराग होता है। इसीलिए कथाओं में सत्य के रूप को विकृत नहीं करना चाहिए। कथाओं में घटनाओं की प्रधानता रहती है और भावों की भी, परन्तु इन सभी घटनाओं और भावों के भीतर सत्य का चिरन्तन स्वरूप ही परिलक्षित होना चाहिए। मेरा यह कथन है कि हिन्दी के अधिकांश कथाकार सत्य के इसी चिरन्तन स्वरूप को भूलकर जीवन की विकृत अवस्था का चित्र अङ्कित कर रहे हैं।"

मैंने कहा, "तो क्या आपकी यह सम्मति है कि कथा-साहित्य में नीति-शास्त्र या धर्म-शास्त्र का विचार करके ही पात्रों का निर्माण किया जाय? क्या आप यह चाहते हैं कि हम लोग मनुष्य के जीवन को धर्म की कसौटी पर परखें? क्या आप यह नहीं मानते कि नीति की जो मर्यादा बनी हुई है उससे मनुष्य-जीवन परिमित हो जाता है। एक मात्र समाज की मर्यादा या धर्म की मर्यादा को महत्ता देकर यदि हम कथाओं की रचना करेंगे तो उनसे केवल सिद्धान्तों का प्रचार होगा, सत्य का स्वरूप तो प्रकट नहीं होगा। जिन्हें आप जीवन की विकृत अवस्था का चित्र कहते हैं वे क्या जीवन के अन्धकारमय भाग पर प्रकाश नहीं डालते? क्या समाज के अत्याचारों और नारी-जीवन की हीनता के चित्र हिन्दू-समाज के अन्धकारमय भाग के सच्चे चित्र नहीं हैं?"

महेश बाबू ने कहा, "आपकी कथाओं में समाज का जो चित्र रहता है वह सचमुच सत्य का विकृत रूप है। वह एक मात्र लेखक की रुचि पर निर्भर है। अपनी-अपनी दृष्टि से कोई उसी बात को खराब कह देता है और कोई अच्छी। सच तो यह है कि ऐसी कथाओं में पात्रों की अपनी कोई विशेषता नहीं रहती। मानव-जीवन में जो चरित्र-वैषम्य और भाव-वैषम्य है, उसी में जीवन की यथार्थता छिपी हुई है। उसे जानने के लिए मनुष्य की छोटी से छोटी मानसिक क्रिया की गति पर विचार करना पड़ता है। मनुष्य चाहे किसी भी स्थिति में हो उसमें सत्य की यथार्थ प्रतिष्ठा है, पर सत्य के उस रूप को देखने के लिए हममें व्यापक अनुभूति चाहिए। हिन्दी के कथाकार सामाजिक अत्याचार का वर्णन करने के लिए या सामाजिक कुरीतियों का विरोध करने के लिए अथवा समाज की प्रचलित धार्मिक धारणाओं के विरुद्ध उत्क्रान्ति का भाव लाने के लिए जिन कथाओं की रचना करते हैं, उनमें व्यक्तित्व का वैचित्र्य नहीं रहता। वे एकमात्र उन्हीं की कल्पना की उपज होती हैं। मानसिक भावों के विश्लेषण में लेखकों में सहानुभूति का गाम्भीर्य और सूक्ष्मत्व दोनों होना चाहिए। भाव-वर्णन में अतिशयोक्ति करने से भाव-गाम्भीर्य नहीं रह जाता। इसी लिए आपकी हिन्दी-कथाओं में प्रेम का गाम्भीर्य प्रेमिका अथवा प्रेमी की आत्महत्या में ही जाकर अवसित होता है। आत्महत्याओं की इतनी कथाएँ मैंने पढ़ी हैं कि यदि वे सच हों तो हिन्दू-जाति के विनाश में किसी को भी सन्देह नहीं रह सकता। कितनी ही कहानियों के पात्र तो उन्माद रोगग्रस्त रोगी के समान अस्वाभाविक कार्य करते हैं।"

मैंने पूछा—"तो क्या आप समझते हैं कि हिन्दी के आख्यायिका-लेखक यथार्थ जगत् का चित्रण नहीं करते ?"

महेश बाबू ने कहा—"इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी के अधिकांश लेखक भावुक हो गये हैं। उनकी भावुकता का चाहे जो कारण हो परन्तु यह तो निश्चित है कि उनका वर्णित जगत उन्हीं के मन में स्थित है। हिन्दी के प्रसिद्ध आख्यायिका लेखक प्रसादजी ही को लीजिए। उनके सभी पात्र असाधारण हैं क्योंकि असाधारण भावों से ही वे युक्त हैं। उनका 'गूदड़साँई' साधारण वैरागी नहीं है, उसमे माया नहीं है, मोह नहीं है, और न है क्षुधा और तृष्णा। उसकी इच्छा असाधारण है। उसे तृप्ति तभी होती है जब दस वर्ष का एक बालक उसे रोटी देता है। वह बालकों से अपना गूदड़ छिनवाने मे और फिर उनसे गूदड़ छीनने मे ही आनन्द-लाभ करता है। इसी प्रकार उनका बनजारा उतना ही भावुक नवयुवक है जितनी भावमयी उसकी प्रियतमा मोनी। बनजारा अपना लादने का व्यवसाय मोनी के लिए ही छोड़ देना चाहता है और मोनी भी लादने के लिए बोझा इकट्ठा करना छोड़ देती है। दोनों प्रेमी-प्रेमिकाओं में प्रेम होने पर भी अनन्त वियोग है। मोनी आशा में अनमनी बैठी रह जाती है और नन्दू हताश होकर घर लौट आता है। उनके इस वियोग का एकमात्र कारण यह है कि नन्दू भावुक है और मोनी भावमयी।"

"हिन्दी के एक दूसरे लब्धप्रतिष्ठ लेखक जैनेन्द्रजी की सभी कहानियों मे विलक्षण भावुकता है। उनके सभी पात्र भाव-जगत् के हैं। लौकिक व्यापारों से उनका कोई प्रयोजन ही नहीं। लौकिक बन्धनों से वे सभी मुक्त हैं। उच्छृङ्खलता ही उनके लिए नियम है, स्वच्छन्दता ही उनकी नीति है। उनके सभी कार्यों में एक विचित्रता है, एक अपूर्वता है। उनमें अल्हड़पन है, हठ है और प्रेमोन्माद है। भाव के आवेश में आकर वे सभी कुछ कर बैठते हैं। आँखें उन्हें नहीं रोक सकतें। तूफान उन्हें

नहीं रोक सकता। बादल गरजे अथवा बिजली चमके, उनकी नायिका काली दुनिया में ही जायगी। ऊपर आसमान होगा और नीचे धरती और वह निश्चिन्त होकर अपने प्रियतम के पास चली जायगी। उनके सभी पात्र मानो यही कहते हैं कि चाहे कुछ भी हो हम तो वही करेंगे जो हम चाहेंगे—परिणाम की उन्हें चिन्ता नहीं, लोक-निन्दा की उन्हें आशङ्का नहीं। यह उन्हीं की कहानियों मे सम्भव है कि रेल के कम्पार्टमेंट में भेंट हो जाने पर एक अपरिचित व्यक्ति से एक युवती का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाय कि वह घर में जहर खाकर और फिर पार्क में उसी युवक से फोटो खिंचवाकर उसी के सामने मर जाय। इसी प्रकार उनका मास्टर साहब अपनी दुश्चरित्रा स्त्री की सभी व्यभिचार-लीलाओं को चुपचाप सहकर उसे लक्ष्मी कहकर उसका स्वागत करता रहे।"

रमेश ने कहा—"कल्पना की उपज होने के कारण आख्यायिकाओं मे सत्य का रूप विकृत ही तो रहता है। कथा में घटनाएँ यथार्थ जगत् से ज्यो की त्यों तो नहीं ली जाती और न उनमें यथार्थ जीवन का ज्यो का त्यों चित्रण ही किया जाता है। कविता की भाँति आख्यायिका भी लेखक की अपनी विशेषता की अभिव्यक्ति का एक साधन है। लेखक ने जीवन के जिस विशेष रूप को देखा है, अनुभव किया है और उसके सम्बन्ध में धारणा स्थिर की है, अपनी उसी दृष्टि, उसी धारणा और उसी अनुभूति को वह आख्यायिका द्वारा व्यक्त करेगा। जीवन में उसने जो हीनता देखी है, या मधुरता का अनुभव किया है, या पाप की वीभत्सता का निरूपण किया है या जीवन के अन्धकारमय भाग मे उज्ज्वल आलोक का दर्शन किया है, वही सब तो उसकी कथा मे प्रकट होगा। तब आपके इस कथन का क्या अभिप्राय हो

सकता है? क्या आप चाहते हैं कि आख्यायिका-लेखकों के पात्रों के जीवन में वैचित्र्य ही न हो?'

महेश ने कहा—"जीवन में किसी भी सत्य का प्रदर्शन लेखक की अनुभूति का फल है। पर जब लेखक जीवन की यथार्थ गति पर ध्यान न देकर एकमात्र अपने ही भाव के अनुकूल पात्रों का निर्माण करता है तब कठपुतली की तरह उसके सभी पात्र निष्प्राण रहते हैं। वे मानो लेखक के इङ्गित पर नाचते हैं। उनमें हम जीवन नहीं देखते, जीवन का तमाशा देखते हैं। यही कारण है कि उनके कार्यों से न हममें सहानुभूति का भाव जागृत होता है और न वह आनन्द प्राप्त होता है जो जीवन में किसी भी प्रकार की महिमा का दर्शन करने से होता है। उनमें हम मनुष्यत्व की वह झलक नहीं देख पाते जिसके कारण कथाओं की ओर हम सब का अनुराग होता है।"

मैंने कहा, "उस दिन मैंने चाय की दूकान में इसी नगर के एक चोर का हाल सुना। उसने पचीसों चोरियाँ कीं, कई बार वह पकड़ा गया और कई बार उसे सज़ा हुई। अन्त में वह बनारस में चोरी ही के अपराध में पकड़ा गया, वहीं उसे सज़ा हुई और वहीं जेल में वह मर गया। मैंने देखा कि सभी लोगों ने उस चोर के प्रति सहानुभूति ही प्रकट की। यह तो सभी जानते हैं कि चौर्य-वृत्ति सबसे अधम वृत्ति है। समाज चोरों का तिरस्कार करता है, धर्म उनकी निन्दा करता है और शासक उन्हें दण्ड देता है, तो भी लोगों की उनकी ओर जो सहानुभूति है उसका कारण मेरी समझ में तो यह है कि मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता पर सभी को सहानुभूति हो जाती है। सभी व्यक्ति अपने हृदय में लोभ की दुर्दमनीयता का अनुभव अवश्य करते हैं, इसी लिए जिसे आप नीति की अवज्ञा या उपेक्षा या उच्छृङ्खलता समझते हैं, वह यथार्थ में लेखकों की वह सहानुभूति है जो

मनुष्यों की स्वाभाविक अक्षमता और दुर्बलता को देखकर होती है। विक्टर ह्यूगो का 'जीन विलजीन' चोर होने पर भी उदारता और सज्जनता का साक्षात् अवतार है। क्या आप नहीं चाहते कि हिन्दी में पतितों या पतिताओं के प्रति सहानुभूति का भाव प्रदर्शित किया जाय ?"

महेश ने कहा—"हमें पापों से घृणा करनी चाहिये पर पापियों से सहानुभूति करनी चाहिए। यह बात मैं भी मानता हूँ, पर पाप को पाप ही तो मानना होगा। जो बात बुरी है उसे अच्छी मानकर उसकी ओर आकृष्ट होना तो श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता। 'जीन विलजीन' सहानुभूति का पात्र होने के कारण उदार तो बन गया पर जो पापकर्मों में ही निरत हैं उनके पाप को उज्ज्वल पुण्य मान बैठना तो कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता। यदि कोई स्त्री अपनी युवावस्था में किसी से प्रेम करने लगे तो यह उसकी दुर्बलता अवश्य है पर समझाने पर भी, दण्डित होने पर भी, विवाहित होने पर भी यदि वह कुपथगामिनी ही बनी रहे तो वह घृणामयी ही होगी। फिर जब वह एक को छोड़कर दूसरे की अनुचरी बन जाती है तब उसके कृत्यों में प्रेम की उज्ज्वलता देखना किसी भी प्रकार क्षम्य नहीं है। त्याग-पत्र में नायिका सहानुभूति अथवा क्षमा का पात्र मानी ही नहीं जा सकती। जगत् को कठोर कह देने से, मा को कठोर मान लेने से, पति को मूर्ख और हृदयहीन बना देने से उसके चरित्र में उज्ज्वलता नहीं आ जाती। वह शरत् बाबू की पतिता नायिका नहीं है जिसका अन्तस्तल सदैव पवित्र रहता है और जो निरप-राध होकर भी दण्डित हो जाती है। समाज के विरुद्ध वह किसी प्रकार की बात नहीं कह सकती। उसने जो कुछ किया है, उसका दोष उसी पर आरोपित होगा। अतएव किस न्याय-बुद्धि से प्रेरित होकर न्यायाधीश ने अपना पद छोड़ दिया। यह

तो लेखक ही जाने, पर इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे आचरणों के प्रति लोगों की सहानुभूति नहीं हो सकती। मैडम बोवेरी ने जो व्यभिचार किये हैं वे व्यभिचार ही हैं। उन व्यभिचारों के प्रति लेखक की सहानुभूति नहीं है। मोपासाँ ने मनुष्य-जीवन में पाप की जो वीभत्सता प्रकट की है, उसके प्रति उन्होंने सहानुभूति का भाव नहीं प्रकट किया। पर हिन्दी के लेखकों में यही दोष है कि वे सभी पापों में प्रेम की उज्ज्वलता या पुण्य का आलोक लेते हैं। उनके हृदय में केवल यही भावना काम कर रही है कि युवावस्था की उद्दाम वासना, स्वच्छन्दता, उच्छृङ्खलता, यह सभी स्पृहणीय हैं और इसी लिए ऐसे ही चित्र अङ्कित कर वे मन में सन्तोष प्राप्त कर लेते हैं। मैंने तो अभी तक कुछ ही कहानियों में यथार्थ चित्रण पाया है। अधिकांश कहानियों में तो ऐसे विकृत प्रेमोन्माद के ही चित्र अङ्कित हैं। मैं तो यही चाहता हूँ कि शीघ्र ही यह रोग हिन्दी साहित्य से दूर हो जाय। इसी में हम सब का कल्याण है।"

'एवमस्तु', कहते हुए रमेश ने मुझसे विदा माँगी।

दूसरा दिन

दूसरे दिन रमेश बाबू और महेश बाबू के आने के बाद मैंने हिन्दी के नव-कथा-साहित्य के सम्बन्ध में फिर वही बात छेड़ दी। मैंने कहा—आधुनिक हिन्दी-साहित्य प्रगतिशील समाज की रचना है। संसार में जो क्रान्ति की भावना फैल रही है, वह हम लोगों के समाज में भी प्रचलित हो रही है। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि कथा-साहित्य में नव-नैतिक आदर्श रक्खे जायँ।

रमेश ने कहा—कहा तो यही जाता है कि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है। यदि हम किसी युग के साहित्य पर दृ

डालें तो हमें उसमें तत्कालीन समाज की भावना मिल जावेगी। हम जान लेंगे कि उस समय समाज का चिन्ता-स्रोत किधर बह रहा था। उसी से हम यह भी पता लगा लेंगे कि समाज उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा था अथवा अवनति की ओर जा रहा था। उन्नतिशील समाज की आकांक्षाएँ सदैव ऊँची होती हैं। वह विघ्न और बाधाओं को अतिक्रमण करने के लिए उद्यत रहता है। उसकी ज्ञान-लिप्सा बढ़ी रहती है और वह सत्य के अनुसन्धान में लगा रहता है। उसकी आशा भविष्य में रहती है। परन्तु जब समाज की मानसिक शक्ति का ह्रास होने लगता है तब वह अपने अतीत गौरव को ही दृढ़ता से पकड़ना चाहता है। वह भविष्य की चिन्ता छोड़कर वर्तमान में ही सन्तुष्ट हो जाता है। उसकी आकांक्षाएँ परिमित हो जाती हैं। एक संकुचित क्षेत्र में ही वह अपने ज्ञान का विकास देखना चाहता है। उस क्षेत्र के बाहर जाने का उसे साहस नहीं होता। समाज की यही दो अवस्थाएँ हैं, एक उसकी तरुणावस्था कही जा सकती है और दूसरी वृद्धावस्था। वृद्धावस्था में समाज की दृष्टि अतीत में ही आबद्ध रहती है और तरुणावस्था में वह भविष्य की ओर देखता है। मर्यादा की रक्षा और परम्परा की अभिज्ञता वृद्धावस्था का फल है। तरुणों का शास्त्र है उनकी आशा, उनका आदर्श, उनकी आकांक्षा और उनका उत्साह। वृद्ध सदैव प्राचीन शास्त्रों की दुहाई देते हैं। वे यही कहते रहते हैं कि देखो, इस पथ को आज तक किसी ने ग्रहण नहीं किया, अतएव यह दूषित पद्धति है। इसे छोड़ देना ही श्रेयस्कर है परन्तु तरुण उनकी बात नहीं सुनते। फल न मिलने पर भी उनकी आशा नहीं टूटती, क्योंकि उनकी दृष्टि भविष्य की ओर लगी रहती है। इन्हीं दो अवस्थाओं में दो प्रकार के साहित्यों की सृष्टि होती है। पहली अवस्था में ज्ञान की पुनरावृत्ति होती है और दूसरी अवस्था में

नवीन ज्ञान का प्रचार होता है। पहला साहित्य परीक्षा करता है और दूसरा सृष्टि करता है। एक को समाज पर अवलम्बित होना पड़ता है और दूसरा समाज का विरोध करता है। वहाँ साहित्य समाज के भविष्य-पथ को निर्दिष्ट करता है, वही यथार्थ में अपने युग के विशेषत्व का द्योतक है, उसी में युग की उच्चतम आकांक्षा प्रकट होती है, वही उन आदर्शों की सृष्टि करता है जो समाज में प्रचलित होते हैं। हिन्दी के आधुनिक साहित्य में आधुनिक युग का जो नवीन चिन्तास्रोत बह रहा है, वह उसकी तरुणावस्था का सूचक है। उसमें नव आदर्श ही निर्मित होंगे।

महेश ने कहा—इसी लिए तो वह विशेष चिन्ताजनक है। तरुणावस्था में केवल स्फूर्ति ही नहीं रहती, असंयत वासना और उच्छृङ्खल प्रवृत्ति भी रहती है। इसी लिए तरुणों के सम्मुख उच्च आदर्श ही रखना चाहिए। जब तक शौर्य, पराक्रम और साहस में उदारता, सहिष्णुता और गौरव का उच्च भाव नहीं तब तक तरुणावस्था की शक्ति कुपथ पर ही अग्रसर होगी। इसी लिए तरुणों के साहित्य में भारतीय आदर्शों की रक्षा करनी होगी, क्योंकि उन्हीं में जीवन की यथार्थ गरिमा है।

मैंने कहा—भारतीयों में स्वाधीनता के भाव जाग्रत होने का एक परिणाम यह हुआ है कि अब सर्वत्र वे पराधीनता की शृङ्खला को तोड़ देना चाहते हैं। स्वाधीनता का यह भाव केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही परिमित नहीं है। जो हमारे देश के नेता हैं, वे केवल विदेशियों का आधिपत्य ही दूर करना नहीं चाहते; वे यह भी चाहते हैं कि देश की उन्नति के मार्ग में, उसकी स्वाधीनता-प्रेम की चेष्टा में, यदि किसी सम्प्रदाय या समाज का प्रभुत्व बाधक हो रहा है तो वह भी दूर कर दिया जाय। समाज और धर्म में जो उनकी स्वाधीनता का बाधक है वह अश्रेयस्कर है

और इसी लिए वे इसे भी निर्मूल कर देना चाहते हैं। सारांश देश अब स्वाधीनता चाह रहा है, और कुछ नहीं।

महेश ने कहा—अच्छा यह स्वाधीनता है क्या? प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार उन्नति करने का पूरा अधिकार है; यदि उसे यह अधिकार प्राप्त है तो वह स्वाधीन है। यदि वह अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी दूसरे के निर्दिष्ट पथ पर चलने के लिए बाध्य किया जाता है तो वह स्वाधीन नहीं है। स्वाधीनता में इच्छानुसार काम करने का अधिकार होना चाहिए। परन्तु यथेच्छाचार स्वाधीनता नहीं है। हम इष्ट-सिद्धि के लिए जो पथ चाहें ग्रहण कर लें, पर दूसरों का तो अनिष्ट करने का हमें अधिकार नहीं है। यदि हमने अपनी उन्नति के लिए ऐसे उपायों का अवलम्बन किया जिनसे दूसरों की उन्नति का द्वार अवरुद्ध हो जाता है तो यह हमारी स्वाधीनता नहीं यथेच्छाचार है। किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि वह दूसरों का अनिष्ट करे। कोई भी स्वाधीन व्यक्ति अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए न तो देश का अहित कर सकता है, न समाज का, न अन्य व्यक्तियों का, यहाँ तक कि वह अपने पुत्र और स्त्री का भी अहित नहीं कर सकता। इसी से व्यक्ति के यथेच्छाचार को रोकने के लिए देश, राष्ट्र या समाज के द्वारा कुछ नियम बनाये जाते हैं। उन नियमों का अनुसरण करना ही पड़ता है। तभी लोगों की स्वाधीनता अक्षुण्ण रह सकती है। व्यक्ति का समाज के साथ जो सम्बन्ध है उसे दृढ़ करने के लिए समाज अपनी एक मर्यादा स्थिर करता है। उस मर्यादा का जो उल्लङ्घन करेगा, वह समाज के द्वारा दण्ड्य है। यही सामाजिक धर्म कहलाता है। व्यक्ति का देश और राष्ट्र से भी सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध को अक्षुण्ण रखने के लिए देश या राष्ट्र की ओर से व्यक्तियों की स्वाधीनता की एक सीमा निश्चित

कर दी जाती है। वह सीमा भी अलघ्य है, केवल व्यक्ति के लिए नहीं, समाज के लिए भी। कोई राष्ट्र या देश प्रबल होने पर दूसरे निर्बल राष्ट्रो पर अत्याचार कर सकता है। उस अत्याचार को रोकने के लिए अभी तक ऐसी कोई योजना नहीं हुई है, जिससे निर्बल राष्ट्रों पर प्रबल राष्ट्रो का अत्याचार बन्द हो जाय। पर न्याय-प्रियता मनुष्य के स्वभाव में है। केवल वही राष्ट्र का नियन्त्रण करती है। बात यह है कि अकेला व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता। समाज के रूप मे सङ्गठित होने पर उसकी शक्ति बढ़ जाती है। राष्ट्र हो जाने पर तो उनकी शक्ति अदम्य हो जाती है। पर मनुष्यों में न्याय, दया, सत्य आदि ऐसे गुण हैं जिन पर मनुष्य मात्र का अनुराग है। उन गुणों का तिरस्कार करने पर स्वय एक लांछना सहनी पड़ती है। जिसे हम धर्म कहते हैं वह इन्हीं गुणों का प्रचार करता है। धर्म का सिद्धान्त मनुष्य मात्र के लिए है, चाहे वह किसी भी समाज, राष्ट्र या देश का हो। यही धर्म का यथार्थ स्वरूप है। यही उसकी यथार्थ महिमा है। वह जितना एक व्यक्ति के लिए आवश्यक है उतना ही एक समाज और एक देश के लिए भी आवश्यक है। उसी का अनुसरण कर कोई व्यक्ति अपनी यथार्थ उन्नति कर सकता है। धर्म के पथ पर रहने से ही किसी समाज या राष्ट्र का कल्याण हो सकता है। परन्तु जो धर्म यथार्थ में श्रेयस्कर है उसका अनुशासन मानने के लिए कोई बाध्य नहीं। समाज की मर्यादा भङ्ग करने से उसे समाज का दण्ड भोगना पड़ता है। देश या राष्ट्र के विरुद्ध चलने से वह तुरन्त ही शासित होता है। परन्तु धर्म का अनुसरण करना उसकी इच्छा पर निर्भर है। धर्म विरुद्ध चलकर भी लोग समाज और राष्ट्र के नियमों का पालन कर सकते हैं। यही कारण है कि सभी देशों और सभी समाजों में दुराचारों और दुर्नीति का अस्तित्व है। जो देश या

राष्ट्र स्वाधीन हैं, जो सभ्यता के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, जो उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके हैं, उनमें भी दुराचारों की वृद्धि हो रही है। पर सच पूछिए तो क्या व्यक्ति क्या राष्ट्र सभी के अधःपतन का मुख्य कारण धर्म के यथार्थ आदर्श से च्युत होना है। अतएव चाहे राष्ट्रीय स्वाधीनता हो या सामाजिक स्वाधीनता, जब तक वह सत्य और धर्म के उच्च आदर्श से विहीन है तब तक उससे कल्याण होने का नहीं। त्याग और संयम, सत्य और न्याय ही सच्ची स्वाधीनता के आधार हैं। इस आधार के बिना स्वाधीनता का कोई भी ऐसा मन्दिर निर्मित नहीं हो सकता जहाँ विलासिता और अनाचार का ताण्डवनृत्य न हो। इसी से भारतवर्ष में स्वाधीनता के उपासकों को अपने सिद्धान्तो का प्रचार करते समय धर्म का यह यथार्थ स्वरूप न भूल जाना चाहिए।

मैंने कहा—भारतवर्ष में स्वातन्त्र्य का जो आन्दोलन हो रहा है उसका एकमात्र ध्येय राष्ट्रीय स्वाधीनता ही नहीं है। उसका लक्ष्य हिन्दू-समाज के अन्तर्गत पराधीनता के प्रति विद्रोह भी है जिसके कारण सभी लोगों को समाज में समान स्थान प्राप्त नहीं है। उसका उद्देश्य हिन्दू परिवार में स्त्रियों को पुरुषों के प्रभुत्व से मुक्त करना भी है। इस प्रकार राष्ट्रीय स्वाधीनता, सामाजिक स्वाधीनता और पारिवारिक स्वाधीनता, यही आधुनिक भारतवर्ष की सबसे बड़ी समस्या है। हिन्दी के कथा-साहित्य में स्त्रियों के अनाचार और पुरुषों के अत्याचार वर्णित होते हैं। उनसे यही प्रतीत होता है कि हिन्दू-समाज की बड़ी दुरवस्था है। हिन्दू-समाज में एक नहीं, अनेक दोष उत्पन्न हो गये हैं। इन दोषों के दूर करने से ही समाज का कल्याण हो सकता है। अतएव जो समाज के शुभचिन्तक हैं उनका यह कर्त्तव्य है कि समाज के दोषों की अच्छी तरह परीक्षा करें। समाज का रोग दूर करने

के लिए आँखें मूँद लेने से काम नहीं चलेगा। जो घटनाएँ हमारे समाज में प्रतिदिन हो रही हैं, उनकी उपेक्षा करने से समाज में दुराचारों की वृद्धि ही होगी। यदि आदर्श-चरित्रों की सृष्टि करने से समाज के दुराचार दूर हो जाते तो हिन्दू-साहित्य में आदर्श चरित्रों के विद्यमान होते हुए भी हिन्दू-समाज में अत्याचारों की वृद्धि न होती। समाज की यथार्थ स्थिति जानने के लिए हमें समाज की बीभत्स लीलाओं पर विचार करना ही होगा।

महेश ने कहा—मैं यह बात स्वीकार करता हूँ; समाज की दूषित प्रथाओं को बन्द कर आप नव-प्रथाएँ प्रचलित कीजिए, पर उसके लिए धर्म के आदर्शों का सहार मत कीजिए। सुधार आवश्यक होता है। किन्तु यह काम बड़े उत्तरदायित्व का है। केवल कल्पना के द्वारा समाज का विकृत चित्र खींचकर उसमें दोषों की उद्भावना करने से समाज का कोई कल्याण नहीं हो सकता। जब कोई अपनी उद्दाम वासना के कारण उन्मत्त होकर असत्-पथ पर जाता है तब हमें समझ लेना चाहिये कि यह उसकी विकृत अवस्था है, मानसिक रोग का प्रकोप है, और एक चिकित्सक की तरह हमें उस रोग का निदान जानने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। जो लोग बाल-विवाह का दुष्परिणाम दिखाने के लिए एक हिन्दू युवती को विधवा बनाकर उससे घोर पाप करा डालते हैं या नवयुवकों के प्रेम को महत्ता देकर हिन्दू-विवाह-बन्धन के विरुद्ध किसी नायक और नायिका के जीवन को दुःखान्त नाटक बना डालते हैं और उनसे लोक-मर्यादा का भंग करा के वासना-जन्य प्रेम को ही गौरव देते हैं, उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि जिस समाज में बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित नहीं है और जहाँ विधवाओं का पुनर्विवाह होता है, वहाँ भी दुराचारों का अभाव नहीं है। इसी प्रकार जहाँ प्रेम-

मूलक विवाह-प्रथा है और युवकों और युवतियों को पूरी स्वच्छ-न्दता है वहाँ भी दुराचार है, विवाह-विच्छेद है और उनके प्रेम का दुःखद अन्त है। स्त्रियो और पुरुषो के नैतिक पतन का सबसे बड़ा कारण है काम-वासना। मनुष्यो की पाशविक प्रवृत्तियो में यही वासना सबसे अधिक प्रबल होती है। असंयत वासना सर्वत्र निन्द्य है। सभी समाजों में मनुष्यों की अस्वाभाविक दुष्प्रवृत्तियो को रोकने के लिए चेष्टा की जाती है। पर विकृत अवस्था में ही यह उद्दाम होती है। स्वाभाविक अवस्था में मनुष्य का नैतिक पतन हो नहीं सकता। पुरुषों के प्रति स्त्रियो का और स्त्रियों के प्रति पुरुषों का जो स्वाभाविक आकर्षण होता है, उसका अन्त केवल वासना की तृप्ति में ही नहीं हो जाता। वह प्रेम के रूप में परिणत हो जाता है। तब उससे सहानुभूति और सेवा के भाव जाग्रत होते हैं और अन्त मे आत्मोत्सर्ग। प्रेम का अन्त भी इसी में है। सभी देशों के साहित्य में आत्मोत्सर्ग ही प्रेम का आदर्श माना गया है। हिन्दू-समाज में भी यही आदर्श प्रचलित है। उसी से हिन्दू-विधवाएँ आजीवन वैधव्य स्वीकार कर लेती हैं।'

मैंने कहा—पर विचारणीय यह है कि हिन्दू-परिवार में क्या स्त्री और पुरुष के यथार्थ सम्बन्ध मे कुछ ऐसे दोष नहीं हैं, जिनसे स्त्रियों या पुरुषों का स्वाभाविक अवस्था में भी पतन हो सकता है। बङ्किम बाबू की रोहिणी के साथ प्रेमचन्दजी की सुमन की तुलना कीजिए। रोहिणी विधवा है, युवती है, सुन्दरी है। उसके हृदय में वासना है परन्तु वह गुप्त है। वह वासना इतनी उद्दाम नहीं है कि वह लोक-लज्जा या समाज-मर्यादा का उल्लङ्घन कर जाय। पर एक बार गोविन्दलाल ने उसके प्राणो की रक्षा के लिए कुछ दिनों तक उसको अपने घर में छिपाकर रक्खा। उस समय गोविन्दलाल का हृदय चञ्चल नहीं हुआ—यह बात नहीं है।

रोहिणी के सौन्दर्य ने उसके हृदय को क्षण भर के लिए क्षुब्ध अवश्य किया; परन्तु वह उद्दाम नहीं हुआ। पर कुछ ही दिनों के बाद रोहिणी को लेकर गोविन्द भाग गया। उस समय उसने अपनी सती प्रियतमा पत्नी का विचार नहीं किया। उसने लोक-लज्जा को भी तिलाञ्जलि दे दी। स्वाभाविक अवस्था में यह सम्भव नहीं था। तब उसकी यह अस्वाभाविक अवस्था क्यों हुई? समाज ने उसके चरित्र की पवित्रता पर विश्वास क्यों नहीं किया? लोगों को उसके चरित्र पर सन्देह क्यों हुआ? अब सुमन का चरित्र लीजिए। सुमन के हृदय मे लालसा अवश्य थी, परन्तु उसी लालसा से उसका चरित्र भ्रष्ट न होता, उसके चरित्र में इतनी दृढ़ता है, परन्तु जब वह अपने पति के अनुचित सन्देह के कारण घर से तिरस्कारपूर्वक निकाल दी गई तब उसने वेश्यावृत्ति स्वीकार कर लेने में सङ्कोच नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि हिन्दू-समाज में पति-पत्नी या स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध में कुछ त्रुटि अवश्य है। एक अँगरेज रमणी अपने पति के अन्यान्य-युक्त सन्देह का तिरस्कार कर अलग हो सकती है। परन्तु वह चरित्र-भ्रष्ट नहीं होगी। उसकी वासना ही उसे सत्पथ से हटा सकती है। सुमन और रोहिणी पाश्चात्य-समाज में सम्भव नहीं हैं, क्योंकि पाश्चात्य-समाज मे स्त्रियो को सामाजिक स्वाधीनता प्राप्त है। वहाँ भी स्त्रियों और पुरुषो का अत्याचार सहना पड़ता है। पर उसका कारण यह है कि वहाँ स्त्रियो ने यथेष्ट आर्थिक तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त की है।

रमेश ने कहा—भारत में आजकल स्त्री-स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में जो आन्दोलन हो रहा है वह समाज में स्त्री और पुरुष का यथार्थ सम्बन्ध निश्चित कर देना चाहता है। जो स्त्री-स्वातन्त्र्य के पक्ष में हैं उनका कथन है कि पुरुष-जाति ने केवल अपनी शारीरिक शक्ति के कारण स्त्रियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया

है। समाज में पुरुषों का प्राधान्य उनके नैतिक गुणों के कारण नहीं है। सच पूछिए तो समाज में दुराचारों की वृद्धि के कारण पुरुष ही हैं। स्त्रियों का कोई अपराध क्षन्तव्य नहीं है। जो पुरुष स्त्रियों को विपथ पर ले जाते हैं वे स्वयं अपराधों के दण्ड से बच जाते हैं। यही नहीं, समाज में उनके लिए उन्नति का द्वार उन्मुक्त रहता है। परन्तु विपथगामिनी स्त्रियों के लिए समाज के सभी मार्ग अवरुद्ध हैं। एक बार कर्तव्य-च्युत होने के बाद उनका अधःपतन ही होता जाता है। पतिता स्त्रियों के उद्धार के लिए समाज ने कभी चेष्टा नहीं की। जो देश सभ्य कहलाते हैं उनमें वेश्याओं की वृद्धि क्यों हो रही है? धन पर पुरुषों का अधिकार होने के कारण स्त्रियों को विवश होकर यह नीच-वृत्ति स्वीकार करनी पड़ती है। सच तो यह है कि स्त्रियाँ पुरुषों के सुखोपभोग की सामग्री हो गई हैं। सभी अवस्थाओं में उन्हें पुरुषों की सेवा ही करनी पड़ती है। क्या स्त्री-पुरुष का यह सम्बन्ध उचित है? यह सच है कि स्त्रियों का शारीरिक गठन पुरुषों से कुछ भिन्न है और इसी से उनका कार्य-क्षेत्र पुरुषों के कार्य-क्षेत्र से कुछ पृथक् हो जाता है। पर समाज में उनका आदरणीय स्थान होना चाहिए, उन्हें उन्नति के लिए यथेष्ट अवसर मिलना चाहिए। किन्तु पुरुषों ने सर्वत्र अपना अधिकार जमा लिया है। स्त्रियाँ उनकी आज्ञानुवर्तिनी ही होकर रह सकती हैं। क्या यह समाज की उन्नति के लिए श्रेयस्कर है? न जाने कब से स्त्रियाँ पुरुषों का प्रभुत्व स्वीकार करती आ रही हैं। परन्तु समाज में विलासिता और दुराचारों का अन्त कभी नहीं हुआ। स्त्रियों पर सदा अत्याचार होता रहा है और उन्हें चुपचाप पुरुषों के अत्याचार सहने ही पड़े हैं। अब समाज उनके लिए कौन सी नीति निर्दिष्ट करना चाहता है? क्या वह उन्हें यथार्थ स्वाधीनता देने के लिए उद्यत है?

मैंने कहा—और समाज की इस दुर्नीति का कारण है प्राचीन आदर्शों के प्रति श्रद्धा। संसार नव आदर्शों को लेकर आगे बढ़ रहा है, पर हिन्दू समाज की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्राचीन भारतीय सभ्यता के आदर्शों से अभी तक उसका सम्बन्ध बना हुआ है। सीता और सावित्री कविता के पात्र नहीं हैं। उन्हीं की पति-भक्ति और पातिव्रत के आदर्श पर हिन्दू नारी का जीवन ठहरा हुआ है। भगवान् रामचन्द्र या कृष्णचन्द्र केवल पूजनीय नहीं हैं, अनुकरणीय हैं। हिन्दू मात्र का विश्वास है कि धर्म ही की रक्षा के लिए ये सब पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे। इसी से पति-भक्ति और पति-सेवा में ही लोग स्त्री-जीवन की सफलता देखते हैं। ब्राह्मणों को भू-सुर मानकर वे अभी तक उन्हें पूज्य समझते हैं। उनका विश्वास है कि जो प्राचीन काल की रीति या नीति है वह सर्वथा निर्दोष है। उनका कथन है कि भारतवर्ष ने प्राचीन काल में ही अपनी एक विशेष सभ्यता स्थापित कर ली है। उस सभ्यता का मूल धर्म है। प्राचीन काल से आज तक उसने अपनी इस विशेषता को नहीं छोड़ा है।

महेश ने कहा—भारतीय साहित्यों में जिन चरित्रों ने अक्षय स्थान प्राप्त कर लिया है, उनके प्रति मनुष्य की दृढ़ भक्ति है। हिन्दू साहित्य में राम, कृष्ण, अर्जुन, भीम, सीता, सावित्री आदि के चरित्र चिरस्मरणीय बने रहेंगे। ये हम लोगों के दैनिक जीवन में मिल गये हैं। यदि ये हिन्दू जाति की स्मृति से लुप्त कर दिये जायें तो हिन्दु धर्म और भारतीय सभ्यता का विशाल भवन ढह जाय। वेद और शास्त्रों की चर्चा में अल्पसंख्यक विद्वान् ही निरत रहते हैं; अधिकांश हिन्दुओं का धर्म-ज्ञान राम और कृष्ण की कथा ही तक है। कुछ लोग कदाचित् यह कहें कि उपासना के केन्द्र होने के कारण इन्हीं चरित्रों पर हिन्दू-धर्म स्थापित है। पर उपासना का कारण है इनके जीवन की

सम्पूर्णता। उनकी ईश्वरता ध्यान-गम्य है, परन्तु उनकी मनुष्य-लीला हृदयगम्य है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को जो अपना रूप दिखलाया वह योगियो के लिए है। सर्वसाधारण तो उनके मनुष्य रूप ही पर मुग्ध हैं। मनुष्य-जीवन का उच्चतम भाव उन्हीं आदर्शों में प्रदर्शित हुआ है। उनमें प्रेम, त्याग, दया, सेवा और न्याय के सर्वोच्च भाव हैं। उन्हीं के कारण इतना वृद्ध होने पर भी जीवित है। ऐसे सत् साहित्य के आदर्श को छोड़कर व्यभिचार की लीलाओं से पूर्ण कथाओं के द्वारा आप समाज का क्या हित करेंगे? ऐसी मलिन रचनाओं से समाज की मर्यादा भङ्ग होगी और नैतिक पतन होगा। साहित्य का तो एक मात्र ध्येय मनुष्य जीवन की सम्पूर्णता है और वही साहित्य श्रेयस्कर है जिसमें मनुष्य-जीवन की पूर्णता पर विश्वास किया गया है।

रमेश ने कहा—पर आप किसे सत्-साहित्य कहेंगे और किसे असत्? साहित्य मे मलिन रचनाओं का प्रचार बन्द कर देना बड़ा कठिन काम है। अच्छी और-बुरी किताबों का निर्णय करना भी सहज काम नहीं। हालब्रुक जानसन नामक एक विद्वान् ने लिखा है कि पत्रो में कुत्सित साहित्य के विषय में चर्चा तो खूब की जाती है, परन्तु अभी तक थोड़े ही लोग यह समझ सके हैं कि सचमुच सत्साहित्य है क्या। अधिकाश लोगो की धारणा यह है कि कुत्सित साहित्य में उन्हीं ग्रन्थों का समावेश किया जाना चाहिए, जिनमें प्रचलित धर्म, समाज अथवा सदाचार के विरुद्ध रचनाएँ लिखी जाती हैं। कुछ लोग यह समझते हैं कि वही बुरी किताबें हैं, जिन्हें हम किसी नवयुवक अथवा नवयुवती के हाथ में देने से हिचकते हैं। हालब्रुक जानसन साहब का कथन है कि कुत्सित साहित्य के अन्तर्गत इन दोनों प्रकारों के ग्रन्थों की गणना नहीं हो सकती। आपकी तो यह

राय है कि सर्वसाधारण जिसे कुत्सित साहित्य समझते हैं वही यथार्थ में पढ़ने योग्य साहित्य है। आप कहते हैं कि बुरी किताबें यथार्थ में वे हैं जिनमें सत्य का संहार किया जाता है। जो कृत्य सचमुच कुत्सित हैं उन पर समाज की मुहर लगाकर भव्य रूप देने का प्रयत्न किया जाता है। जिनमें मिथ्या को इतना प्रश्रय मिलता है उन्हें लोग क्वचित् ही निन्दनीय समझते हैं। अधिकांश लोग जिन उपन्यासों को शिक्षादायक समझकर पढ़ते हैं उन्हीं के द्वारा कुशिक्षा और मिथ्या संस्कारों का प्रचार होता है। मनुष्य-जीवन का सबसे बड़ा सत्य यह है कि वह परिवर्तनशील है। जो काम किसी एक स्थिति मे श्रेयस्कर है वही काम स्थिति बदल जाने पर अनिष्टकर हो जाते हैं। पाति-व्रत की महिमा का गान कर हिन्दू विधवाओं की दुरवस्था से हिन्दू-समाज ही सन्तुष्ट है। यह सन्तोष ही उन्नति का बाधक है। सत्साहित्य वह है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी उन्नति के लिए चेष्टा करे। जो साहित्य सन्तोष की शिक्षा देता है वह यथार्थ में अनिष्टकर है।

मैंने कहा – यह बात तो सच है कि जो लोग समाज को उसका यथार्थ रूप दिखलाने की चेष्टा करते हैं उन्हें तिरस्कार और लाञ्छना सहनी पड़ती है। समाज का पथ सदैव निर्दिष्ट रहता है। उच्छृङ्खलता उसे सह्य नहीं है। जो व्यक्ति उसकी मर्यादा को भङ्ग करने की चेष्टा करता है उसे समाज कठोर दण्ड देता है। पर सामाजिक अत्याचारों के कारण जिनका जीवन नष्ट हो गया है उनकी चर्चा ही पाप हो जाती है। यदि किसी ने समाज की नीति के विरुद्ध कुछ लिखा तो वह अधार्मिक समझा जाता है। जब हम साहित्य में समाज के विरुद्ध चित्र देखते हैं तब हमें यही बतलाया जाता है कि यह चित्र अनिष्टकर है, पर यथार्थ बात यह है कि वह चित्र समाज

के भविष्य विप्लव की सूचना देता है। जिस शृङ्खला के द्वारा समाज काल की गति अवरुद्ध करना चाहता है उसकी भंगुरता का आभास हमें उसी चित्र से मिलता है।

महेश ने कहा—विद्वानों ने मनुष्य की तीन अवस्थाएँ निर्धारित की हैं। पहली अवस्था है पाशविक। इस अवस्था में मनुष्य की चित्त-वृत्ति वैसी ही होती है जैसी पशुओं की। क्षुधा, निद्रा, भय, क्रोध, आकृष्टि आदि भाव मनुष्य और पशु में समान हैं। द्वितीय अवस्था मध्यावस्था है। इसमें मनुष्य की बुद्धि-वृत्ति परिपुष्ट होती है। अपनी इसी वृत्ति के कारण मनुष्य पशुओं से पृथक् किया जाता है। तृतीय अवस्था वह है जब मनुष्य अपनी आध्यात्मिक और नैतिक वृत्तियों के कारण अपने पाशविक भावों से बहुत ऊँचा चला जाता है। ये तीन अवस्थाएँ मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में जिस प्रकार लक्षित होती हैं उसी प्रकार उसके सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में भी व्यक्त होती हैं। बाल्यावस्था में उसकी बुद्धि-वृत्ति की पुष्टि होती है। वृद्धावस्था में आध्यात्मिक का विकास है। यही बात समाज और राष्ट्र के जीवन में देखी जाती है। जिस प्रकार किसी तेजस्वी और सुखान्वेषी युवक में वृद्धोचित विज्ञता और संयम की आशा करना अनुचित है उसी प्रकार किसी नवोत्थित और तेजोदृप्त सभ्य जाति से प्राचीन और पुष्ट सभ्यता के नैतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष की आशा करना असम्भव है। बात और भी है। उन्नतिशील जाति के हृदय में तीव्र आकांक्षा रहती है और पतनोन्मुख जाति में उदासीनता और वैराग्य के भाव प्रबल रहते हैं। मध्यावस्था में उसकी सुख-लिप्सा खूब बढ़ी हुई रहती है। तभी जाति में विलासिता की वृद्धि होती है।

यह तो निश्चित है कि प्रथम अवस्था में मनुष्य पाशविक जीवन में ही व्यस्त रहता है। अतएव उसकी रुचि भी उसके

उसी जीवन के अनुकूल होती है। वाह्य जगत् उसके लिए अधिक चित्ताकर्षक होता है। जिन कलाओं से उसके जीवन में सुख, स्वच्छन्दता, सुविधा और विलास की वृद्धि होती है उन्हीं के आविष्कार में वह निरत होता है। इन्द्रिय की तृप्ति और जीवन के शारीरिक अभावों को दूर करने की इच्छा उसकी सभी कृतियों में प्रकट होती है। साहित्य में वाह्य जगत् की प्रधानता रहेगी। कला में वाह्य दृष्टि की ओर दृष्टि रहेगी। संगीत और कविता में हृदय की भावनाएँ स्पष्ट रहेंगी। मतलब यह है कि मनुष्य की आत्मा जड़ के अधीन रहेगी और उसकी सभ्यता भी जड़ के अनुगत होगी।

द्वितीय अवस्था में आत्मा पर जड़ का प्रभुत्व नहीं रहता। इससे शारीरिक शौर्य कम हो जाता है। युक्ति का राज्य प्रतिष्ठित होता है। धर्म में तर्क का प्राधान्य होता है। मनुष्य प्राकृतिक और आध्यात्मिक घटनाओं में कार्य कारण का सम्बन्ध ढूँढ़ने लगता है। साहित्य में वस्तुतन्त्रता का प्रभाव उठ जाता है है और वह विशुद्ध अवस्था में प्रकट होता है। धर्म की गति नियमित होती है। सङ्गीत और कविता में स्वरों और अलङ्कारों की सृष्टि होती है। संक्षेप में, यह सभ्यता वैज्ञानिक होती है।

तृतीय अवस्था में वाह्य जीवन की अपेक्षा आन्तरिक जीवन के प्रति मनुष्य का अधिकांश अनुराग होता है। आत्मतृप्ति की, आत्मसंयम की ओर उसका अधिक ध्यान होता है। धर्म मानसिक हो जाता है। स्वार्थत्याग और दया के भाव ख़ूब फैलते हैं। द्वितीय अवस्था में मनुष्यों की युद्ध-लिप्सा क्षीण हो जाती है, और तृतीय अवस्था में तो वह बिलकुल लुप्त हो जाती है। साहित्य, संगीत और कला में चिन्ताशीलता दिखाई देती है। हिन्दी का आधुनिक साहित्य उसकी प्रथमावस्था का सूचक है। यही कारण है कि प्रेम तरुणों के यौवनोन्माद में ही बद्ध हो

गया है। क्रान्ति का नाम देकर शील का संहार किया जाता है। दोषों की परीक्षा एक बात है और अश्लीलता दूसरी बात।

रमेश ने कहा—अच्छा, साहित्य में अश्लीलता है क्या? जो साहित्य समाज मे प्रचलित सदाचार का विरोधी है, वह तो अश्लील नहीं कहा जा सकता।

महेश ने कहा—किन्तु जो सत्य का संहारक है, वह तो अश्लील ही कहा जायगा। अश्लीलता से मनुष्य असत् की ओर प्रेरित होता है। वह असत् को सत्य नहीं समझता किन्तु असत् को असत् समझकर भी उसी की प्राप्ति की चेष्टा करता है। जिस साहित्य से ऐसी दुर्भावनाएँ उत्पन्न हों जिनसे मनुष्य असत् की ओर खिच जाय उसी को हम अश्लील साहित्य कहेंगे। जब कोई वैज्ञानिक मनुष्य के अङ्ग-अङ्ग की परीक्षा कर शरीर-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करता है तब क्या उसके हृदय में कोई दुर्भावना उत्तेजित होती है? इसी प्रकार जब कोई चित्रकार अपनी अन्तर्गत सौन्दर्य-भावना को एक रूप देता है तब क्या वह किसी दुर्भावना के वशीभूत होता है? जब कोई कवि मनुष्य के अन्तस्तल की परीक्षा कर उसके अन्धकारमय जीवन पर प्रकाश डालता है तब क्या वह मनुष्यों को असदाचार की शिक्षा देता है? इसके विपरीत जो मनुष्य की पाशविक वासनाओं को उत्तेजित करने के लिए नारी-सौन्दर्य का अर्धनग्न वर्णन करता है अथवा वासना को ही महत्ता देता है वह अवश्य अश्लील है।

रमेश ने कहा—बर्नार्ड शा ने कहा है कि हम लोग उपन्यासों में भयानक हत्याकांडों का वर्णन पढ़ते हैं। उनमें हम भयानक हत्यारों की भीषण लीलाएँ देखते हैं। परन्तु उससे हम स्वयं घातक नहीं हो जाते। यही नहीं, किन्तु हमारी जिघांसा की प्रवृत्ति एक कल्पित राज्य में जाकर अपने आप नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार हम काव्यों में श्रेष्ठ नर-नारियों का चरित्र पढ़ते हैं।

उनके सद्गुणों का परिचय पाते हैं। पर वे सद्गुण भी कल्पना के ही क्षेत्र में अवरुद्ध हो जाते हैं। हमारी सत्प्रवृत्तियाँ उत्तेजित तो अवश्य होती हैं पर वे कल्पित राज्य में ही विलीन हो जाती हैं। अब विचारणीय यह है कि वाचनालयों में कैसी किताबें रक्खी जायँ। हमारी समझ मे तो वहाँ वैसी ही किताबें रक्खी जायँ, जिनमे दुराचारियो का वर्णन रहे। जासूसी उपन्यासों में चोरों और बदमाशों का ख़ूब हाल रहता है। अतएव पुस्तकालयों मे उन्हीं की भरमार रहनी चाहिए। ऐसी किताबों को पढ़ते पढ़ते जब पाठकों को अनाचार से विरक्ति हो जावेगी तब वे स्वयं आकर कहेंगे—भाई, अब कोई ऐसी किताब दो जिसमे आदर्श चरित्र अङ्कित किया गया हो। किसी सत्पुरुष अथवा महात्मा का जीवन-चरित्र हो। तब पुस्तकालय के अध्यक्ष को उत्तर देना चाहिए—सद्गुणो के निदर्शन के लिए संसार ही प्रधान कार्य-क्षेत्र है। आप स्वयं जाकर अच्छे-अच्छे काम कीजिए। यदि कभी आपमे दुष्प्रवृत्तियाँ जाग्रत हों तो आकर किताबें पढ़िए। मैं आपको फिर ऐसी किताबे दूँगा, जिनसे आपकी दुष्प्रवृत्ति ख़ूब उत्तेजित होगी और अन्त में अपने आप नष्ट हो जावेगी। बर्नार्डशा के कथन का यही सार है।

मैंने कहा—मेरा तो यह कथन है कि सदाचार का सम्बन्ध समाज से है। सत और असत् को जो धारणा हम लोगों में है उसको हमने समाज से ही प्राप्त किया है। यदि मनुष्य समाज से बिलकुल पृथक् रहे, यदि समाज से उसका कुछ भी सम्बन्ध न हो, यदि वह एकाकी ही अपना जीवन व्यतीत करे तो उसके लिए सत् क्या होगा? मनुष्य में जिन नैतिक वृत्तियों का विकास होता है वे समाज की ही सम्पत्ति हैं। समाज के परिवर्तन के साथ उन नैतिक वृत्तियों में भी परिवर्तन होता है। समाज में परिवर्तन होता ही रहता है और उसके अनुसार मनुष्य की नैतिक

वृत्तियाँ भी परिवर्तित होती रहती हैं। समाज चिरन्तन है, नैतिक वृत्तियाँ चिरन्तन हैं और परिवर्तन भी चिरन्तन है। न समाज का अन्त होगा और न सदाचार का, परन्तु यह बात भी निश्चित है कि सदाचार का कोई भी आदर्श का साँचा स्थिर नहीं रहेगा।

महेश ने कहा—देश और काल के अनुसार समाज में जो परिवर्तन होते हैं वे तो होंगे ही। पर मानव-समाज में सत्य और धर्म का जो एक चिरन्तन रूप है उसकी विद्यमानता में भी किसी को सन्देह नहीं है। संसार में भिन्न भिन्न जातियों और भिन्न भिन्न राष्ट्रों का उत्थान-पतन होता रहता है। पर देश और काल को अतिक्रमण कर जो चिरन्तन सत् विद्यमान है उसकी तो उपेक्षा की नहीं जा सकती। तरुणावस्था में जो बात स्पृहणीय है वह वृद्धावस्था में स्पृहणीय नहीं रह जाती। पर इसी लिए तरुणावस्था के प्रेमोन्माद को जीवन का एकमात्र लक्ष्य बनाने पर तरुणों को वृद्धजन संयम की शिक्षा क्यों नहीं देते। समाज की कोई न कोई मर्यादा तो स्थापित ही करनी पड़ेगी। पर साहित्य में उच्छृङ्खल वासना को ध्येय बनाकर समाज की मर्यादा नहीं तोड़ी जा सकती। मनुष्य की पाशविक वासनाओं की ही पूर्ति में जीवन की सार्थकता नहीं मानी जा सकती। उसकी यथार्थ सार्थकता कहाँ है, यही बतलाने के लिये तो साहित्य में मनुष्य-जीवन का उच्चतम आदर्श प्रदर्शित किया जाता है। मनुष्य-समाज का यथार्थ चित्रण कर उसके अन्धकारमय भाग पर सत्य का अवश्य आलोक डालिए। मनुष्य की कितनी दुर्बलता है, कितनी क्षमता है, वह कितना-हीन है, वह कितना महान् है, यही सब साहित्य के विषय हैं। पर सत्य के यथार्थ रूप को विकृत मत कीजिए। असंयत वासना का दमन ही समाज के लिए सदैव श्रेयस्कर है।

नवयुग और नव-आदर्श

भारतवर्ष में नवयुग का आविर्भाव हो रहा है। क्या साहित्य, क्या कला, क्या समाज और क्या धर्म—सभी में नये आदर्शों का निर्माण हो रहा है। स्वाधीनता, एकता और समता के ही आधार पर नये आदर्श का निर्माण हो रहा है। पर यह आदर्श अभी तक विद्रोह अथवा क्रान्ति के ही रूप में है। देश के उत्थान, समाज की उन्नति और मानसिक भावों के विकास में कितने ही लोगों का हाथ रहता है। एक-एक समय में एक-एक ऐसे विज्ञ या महात्मा हो जाते हैं, जिनका प्रभाव तत्कालीन देश और समाज पर विशेष रूप से पड़ता है। यह सच है कि इन सब का प्रभाव समान रूप से न तो स्थायी होता है और न प्रबल ही; तो भी उन्हें जो काम करना होता है, वह काम वे कर ही जाते हैं। उनके बाद लोग भले ही उनकी महत्ता को भूल जायँ, अथवा उनकी नीति को स्वीकार न करें; पर देश या जाति के इतिहास में उनका गौरव अलक्षित रूप से सदा विद्यमान रहता है।

आधुनिक भारत की विचार-धारा के प्रवर्त्तक एक नहीं, अनेक विज्ञ हैं। यह सच है कि पाश्चात्य सभ्यता के सङ्घर्ष से भारतीय सभ्यता ने दूसरा रूप धारण किया है। पर राजा राममोहन राय से लेकर महात्मा गांधी तक सभी विज्ञों ने भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए ही सतत उद्योग किया है। फिर भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भारतवर्ष के साहित्य, समाज

और राजनीति के क्षेत्र में गत २५ वर्षों से जो परिवर्तन होता आ रहा है, उसने अब तक क्रान्ति का रूप धारण कर लिया है। स्वतन्त्रता का आन्दोलन अब केवल शिक्षित जनों में ही बद्ध नहीं है; वह अब जनता का आन्दोलन हो गया है। राजनीति के ही क्षेत्र में उसका प्रभाव नहीं पड़ा है, साहित्य और समाज में भी उसके कारण बड़ा परिवर्तन हो रहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि मानव-समाज में सर्वत्र जो अशान्ति और असन्तोष है, उसका कारण यह है कि व्यक्ति के साथ समाज का और समाज के साथ राष्ट्र का उचित सामञ्जस्य-विधान नहीं स्थापित हुआ है। भौतिक प्रभुता के लिए यदि भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में पारस्परिक स्पर्धा है, तो राष्ट्र के भीतर जातिगत विरोध का भी अभाव नहीं है। समाज के अधिकार के साथ व्यक्तिगत स्वाधीनता की रक्षा भी एक जटिल प्रश्न है। प्रतियोगिता के भाव से सभी एक दूसरे पर आघात कर रहे हैं। जहाँ राष्ट्रीय स्वाधीनता है, वहाँ भी व्यक्तित्व के विकास के लिए आन्दोलन हो रहा है। यही नवयुग की बड़ी समस्या है। क्या सभी व्यक्तियों को समान रूप से अपनी उन्नति करने का अवसर मिलता है? व्यक्ति पर समाज का कितना अधिकार हो, सम्पत्ति का कैसा विभाजन हो?—यही नवयुग के प्रश्न हैं।

भारतवर्ष में नवयुग की वाणी महात्मा गांधी के कण्ठ से उत्थित हुई है। उनके पहले कितने ही नेता हुए; परन्तु उनके शब्द विज्ञों के समाज में ही गूँजते थे। अशिक्षित जनता से उनका कोई सम्पर्क नहीं था। जनता में शिक्षा का प्रचार अत्यन्त परिमित होने के कारण अब भी यह नहीं कहा जा सकता कि सर्वसाधारण में महात्माजी के सिद्धान्तों का प्रचार हो गया है। अभी लोग उनके व्यक्तित्व से जितने प्रभावित हुए हैं, उतने उनके सिद्धान्तों से नहीं। जो महात्माजी

के अनुयायी हैं उनमें भी उनके सिद्धान्तों के प्रति सच्ची भक्ति और श्रद्धा नहीं है। तो भी यह स्पष्ट है कि देश में एक अपूर्व जाग्रति आ गई है। इस नवयुग के आदिकाल में दो व्यक्तियों का विशेष प्रभाव पड़ा है। वे हैं—लोकमान्य तिलक और कवीन्द्र रवीन्द्र।

अन्य नेताओं की अपेक्षा भारतवर्ष के राजनीतिक जीवन में लोकमान्य तिलक का प्रभुत्व क्रमशः बढ़ता ही गया। इसी तरह साहित्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ की कीर्ति बढ़ती ही गई। हिन्दी में 'हिन्दी केसरी' के प्रकाशन के साथ ही हम लोग लोकमान्य के राजनीतिक विचारों से भी परिचित हो गये। रवीन्द्रनाथ की रचनाओं का अनुवाद पहले मासिक पत्रों में—विशेषकर 'सरस्वती' में—प्रकाशित हुआ। फिर उनकी कहानियाँ छपीं, फिर उपन्यास और फिर उनकी कविताएँ। रवीन्द्रनाथ की ये रचनाएँ केवल साहित्य जगत् की ही वस्तुएँ नहीं थीं। उन्होंने पाठकों को जीवन का एक नया आदर्श भी दिखलाया। पाश्चात्य विचार-धारा ने हिन्दू-समाज पर जो आघात किया है, उसको उन्होंने स्पष्ट कर जीवन में जो चिरन्तन सत्य है, उसको भी प्रदर्शित कर दिया। समाज के नव-निर्माण में न अतीत की उपेक्षा की जा सकती है और न वर्त्तमान की। चिरन्तन सत्य का जो सूत्र अतीत और वर्त्तमान को ग्रथित कर उसे दृढ़तापूर्वक भविष्य में ले जाता है, उसी के आधार पर उन्होंने जीवन की आलोचना की।

लोकमान्य तिलक और कवीन्द्र रवीन्द्र का प्रभाव अक्षय होने पर भी परिमित ही था। कांग्रेस में जैसे विज्ञों का प्रवेश था, वैसे ही रवीन्द्र के साहित्य में शिक्षितों का अधिकार था। भारतवर्ष में आज जो हलचल है, वह महात्मा गांधी के कारण है। बनारस में जब विश्वविद्यालय के शिलान्यास का

उत्सव हो रहा था, तब एक छात्र होने के कारण मुझे उनका व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस व्याख्यान में था यथार्थ भारत का यथार्थ सन्देश। वह सन्देश छात्रों को दिया गया था; पर उसके कारण सभा-भवन में हलचल-सी मच गई। महामना मालवीयजी को महात्मा गांधी के उक्त सन्देश की व्याख्या करनी पड़ी। उत्सव तो समाप्त हो गया; पर महात्मा गांधी का सन्देश भारतव्यापी हो गया। राजनीति के क्षेत्र में विप्लव सा हो गया। कांग्रेस की नीति ही परिवर्तित हो गई। कांग्रेस का कोई अस्तित्व ही नहीं रहा, अथवा यह कहिए कि उसने गांधीजी का रूप धारण कर लिया। भारतीयों में जिस प्रकार राजनीतिक पराधीनता आई है, उसी प्रकार मानसिक पराधीनता भी आई है। अब भारतीयों को एकमात्र राजनीतिक स्वाधीनता ही प्राप्त नहीं करनी है, उन्हें अपनी भाषा और साहित्य का भी स्वराज्य स्थापित करना है। राष्ट्रों में ज्ञान का आदान-प्रदान एक बात है और मानसिक दासत्व दूसरी बात है। इसी को अभी दूर करना है।

राजनीति के क्षेत्र मे महात्माजी का जो प्रभाव है, वह तो स्पष्ट है। पर क्या यह कहा जा सकता है कि समाज के क्षेत्र में भी उनका उतना ही प्रभाव पड़ा? क्या चर्खा, क्या खद्दर, क्या अछूतोद्धार और क्या हिन्दू-मुसलमान-ऐक्य—इनमें से किसी ने भी भारतवासियों के हृदय पर गहरा प्रभाव नहीं डाला। क्रान्ति और सुधार की भावना देश में अवश्य आ गई है; पर अभी हिन्दू-जनता के हृदय में प्राचीन आदर्शों का प्रबल संस्कार है। किन्तु यह बात भी सच है कि नवयुग की क्रान्ति उस पर प्रबल आघात कर रही है। देश में अशान्ति और असन्तोष का जो वातावरण हो गया है, उसका मूल केवल राजनीतिक पराधीनता में नहीं है, सामाजिक और बौद्धिक पराधीनता में

भी है। लोग धर्म, समाज और साहित्य के बन्धनों के प्रति असहिष्णु हो रहे हैं। नगरों में तो सर्वत्र नव-सुधारों और नव-आदर्शों की चर्चा हो रही है और तदनुकूल परिवर्तन भी हो रहे हैं। ग्रामों में भी इसका प्रभाव पड़ रहा है।

ग्राम में जीवन-सङ्घर्ष उतना विकट नहीं होता, जितना नगर में। पाप और पुण्य, न्याय और अन्याय की लीलाएँ तो सर्वत्र होती हैं। पर ग्राम्य-जीवन में वह भीषणता और बीभत्सता नहीं होती, जो हम नगर में पाते हैं। नगर के पापों में एक तीव्र बुभुक्षा-सी रहती है। वहाँ वासना अग्नि की तरह प्रचण्ड रहती है। वहाँ लोभ अट्टालिका की तरह बढ़ जाता है। वहाँ क्रोध और प्रतिहिंसा दोनों में ट्रामगाड़ी की-सी उग्रता और क्षिप्रता रहती है। उद्योग के कोलाहल में एक मनुष्य का अस्तित्व बिलकुल दब जाता है। किसी एक के काम की ओर किसी की भी दृष्टि नहीं जाती। पर ग्राम में यह बात नहीं होती। किसी एक के सम्बन्ध की कोई भी बात तुरन्त फैलकर बड़ी बन जाती है; परन्तु विस्तार के साथ ही वह अपनी तीव्रता खो बैठती है। जीवन के प्रवाह में तेल की बूँद की तरह वह जितनी ही अधिक फैलती है, उतनी ही अधिक सारहीन हो जाती है, और अन्त में वह उसी में ऐसे लीन हो जाती है, मानो उसका कोई अस्तित्व ही नहीं था। पाप और कलङ्क, विद्वेष और क्रोध, अत्याचार और अन्याय—सभी में एक क्षणिकता रहती है। जीवन के प्रवाह में ये सभी बह जाते हैं। एक ही स्थान में सब एकत्र होकर जीवन के प्रवाह को अवरुद्ध नहीं करते। तो भी ग्रामों में कभी-न-कभी कोई-न-कोई सुधारक हो ही जाता है।

पण्डितजी भी हमारे ग्राम के एक ऐसे ही सुधारक थे। सुधारक-दल में सम्मिलित होने के पहले पण्डितजी को स्वय

समाज का अत्याचार सहना पड़ा था। तभी से समाज को अपने सुधारों से उलट देने के लिए वे कटिबद्ध हो गये। इसी भावना से प्रेरित होकर वे हम लोगों के गाँव में आये। उनके आते ही ब्राह्मण नवयुवकों ने शिखा और सूत्र को पहले नष्ट किया, फिर सन्ध्या छोड़ी, फिर सिगरेट पीने लगे, फिर चाय के साथ अभक्ष्यों का प्रचार बढ़ा, फिर सुधार प्रारम्भ हुआ। उनके आने के पहले हम सभी लोग अपनी स्थिति से सन्तुष्ट थे। यह बात नहीं थी कि गाँव में कोई बुराई ही न थी अथवा हम लोग उसे जानते ही न थे। हम लोग अपने दोषों को अच्छी तरह जानते थे; पर संसार की कितनी ही अनिष्ट वस्तुओं की तरह हम लोग उन्हें भी अनिवार्य समझकर सन्तोषपूर्वक स्वीकार कर लेते थे। किसी के भी उत्थान-पतन को भाग्य-चक्र का खेल समझकर हम लोग निश्चेष्ट बने रहते थे। सुख-दुःख, हानि-लाभ, न्याय-अन्याय—सभी हमारे लिए विधि के विधान थे। ब्राह्मण हों या शूद्र, उच्च हो या नीच, धनी हो या निर्धन—सभी की स्थिति को हम कर्म-फल मानते थे।

५० वर्ष की अवस्था को अतिक्रमण कर लेने के बाद जब रघुनन्दन बाबू की स्त्री का देहान्त हो गया, तब हम सब लोगों ने उनसे सहानुभूति प्रकट की, और जब उन्होंने अपने पारिवारिक कष्ट को दूर करने के लिए विवाह की इच्छा प्रकट की, तब हम सभी लोग सहमत हो गये। 'देवदास' की पार्वती और 'गृहदाह' की मृणालिनी की तरह स्वयं कन्या ने भी आपत्ति नहीं की और न अनिच्छा ही प्रकट की। किसी ने भी उसका विरोध नहीं किया, क्योंकि किसी ने भी उसमें अनौचित्य नहीं देखा। इसी प्रकार जब लाला कुन्दनलाल ने अपने ज्येष्ठ पुत्र का विवाह १३ वर्ष की ही अवस्था में कर दिया, तब हम सब लोगों ने विवाह का निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार किया और ५ दिनों तक विवाहोत्सव

में सम्मिलित रहे। बाल-विवाह के कुफल पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। एक बार जब १६ वर्ष की अवस्था में ही लाला हरीमोहन की पुत्रवधू विधवा हो गई, तब सारा गाँव शोक में निमग्न हो गया; पर स्वप्न में भी किसी ने यह नहीं सोचा कि उक्त पुत्रवधू का पुनर्विवाह सम्भव है।

परन्तु पण्डितजी के गाँव में आते ही एक आन्दोलन मच गया। गाँव का सारा जीवन क्षुब्ध हो गया। लोगों में एक अशान्ति आ गई। जिन दोषों की ओर किसी ने दृष्टिपात तक नहीं किया था, वही दोष अब सब लोगों को प्रत्यक्ष मालूम होने लगे। सट्टू चमार ने आज तक कभी यह नहीं सोचा था कि शिव-मन्दिर में उसका प्रवेश निषिद्ध कर मन्दिर के निर्माता ने उस पर कितना अन्याय किया है; पर अब उसे यह बात मालूम हो गई। नन्दू मेहतर को पण्डितजी से दूर रहने में अभी तक कोई अत्याचार नहीं प्रतीत होता था; पर अब उसे अस्पृश्यता का यह अत्याचार असह्य हो गया। स्त्रियों में अवश्य उनके सुधारों का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ। कुछ समय पहले कोई विधवा अपने दुष्कर्म के कारण पतित हो गई थी, उसका उदाहरण देकर जब पण्डितजी ने विधवाओं के पुनर्विवाह की चर्चा की, तब स्त्रियों ने ही उनका सबसे प्रबल विरोध किया। उस कलङ्किनी के साथ हिन्दू स्त्री की तुलना करना घोर अपमानजनक हो गया। कितने ही दुश्चरित्र पुरुषों और दुश्चरित्र सधवाओं का उल्लेख कर पण्डितजी से पूछा गया कि उनके लिए किस विवाह की व्यवस्था की गई है? एक ने पण्डितजी से यह भी पूछा कि जहाँ बाल-विवाह नहीं है, जहाँ विधवाओं के विवाह प्रचलित हैं, जहाँ जाति-भेद नहीं है और जहाँ स्त्री-शिक्षा तथा स्त्री-स्वातन्त्र्य भी है, वहाँ पापों का प्रसार क्यों है?

समाज-सेवा और समाज-सुधार की बात मैं भी अपनी छात्रा-वस्था से ही सुनता आ रहा हूँ। जाति-भेद के कारण हिन्दू-समाज मे जो विद्वेष, घृणा और तिरस्कार के भाव फैल रहे हैं, उनके सम्बन्ध मे मैं यथेष्ट सुन चुका था। समाज की उन्नति मे वह कितना बड़ा बाधक है, यह भी मुझे समझाया जा चुका था। बाल-विवाह के कारण समाज का कितना पतन हो गया है, विधवा-विवाह न होने से समाज की कितनी दुरवस्था है, पर्दे के कारण कितना अज्ञान फैला हुआ है, स्त्री शिक्षा तथा स्त्री-स्वातन्त्र्य के अभाव से समाज मे कितनी अधिक सङ्कीर्णता और अनुदारता आ गई है और इन सब का परिणाम हिन्दू-जाति के लिए कितना अधिक घातक हो रहा है—इनकी विशद आलोचना से भी मैं अवगत हो चुका था। हिन्दू-समाज की दुरवस्था के कितने ही चित्र कथा-साहित्य मे अङ्कित हो चुके थे। वे सभी मेरे लिए अज्ञात नहीं थे। इसी से अपनी छात्रावस्था में कितने ही उच्च और उदार विचारो को लेकर मैं संसार मे प्रविष्ट हुआ था। पर इन २८ वर्षों के भीतर मैंने एक हिन्दू-गृहस्थ के रूप में सामाजिक जीवन का जो अनुभव प्राप्त किया, उससे प्राय. मेरे सभी विचार परिवर्तित हो गये हैं। बात यह है कि अपने-अपने व्यक्तिगत जीवन मे हम लोगों को जो एक विशेष परिस्थिति मे रहना पड़ता है, उसके कारण हम लोगों मे आप से आप परिवर्त्तन हो जाता है।

व्यक्तिगत उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि जिस समाज मे हम लोग रहे, वह समाज भी उन्नत हो। उसका आदर्श ऐसा हो, जो सभी लोगो द्वारा अनुसरणीय हो। यह भी सच है कि मनुष्य समाज-प्रिय प्राणी है। समाज से पृथक् होकर सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करना उसके लिए सम्भव नहीं है। यही नहीं, व्यक्ति का समाज से इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि समाज की उन्नति और अवनति पर उसकी भी उन्नति और अवनति-

निर्भर है। हममें जिन गुणों का विकास होता है, वे गुण हम समाज से भी पाते हैं। हमारी नैतिक और कुछ अंश में आध्यात्मिक स्थिति भी समाज पर अवलम्बित है। इसलिए हमारे समाज के नेता सदैव हमारे समाज की उन्नति के लिए सचेष्ट रहते हैं। वे जानते हैं कि समाज की उन्नतावस्था में ही मनुष्य अपनी उन्नति अच्छी तरह कर सकता है।

समाज के सङ्गठन में ही त्याग का भाव विद्यमान है। समाज व्यक्तियों का समुदाय है। जब १० मनुष्य मिलकर कोई काम करते हैं, तब उस कार्य के लिए उन्हें अपने-अपने छोटे कामों की चिन्ता छोड़नी पड़ती है। महत्ता के लिए क्षुद्रता का त्याग करना ही पड़ता है। तभी समाज की स्थिति सम्भव है। समाज की मर्यादा उसी महत्तम उद्देश्य की पूर्ति के लिए बतलाई जाती है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य होता है कि वह अपने क्षुद्र स्वार्थों को छोड़कर उस महत्तम उद्देश्य की पूर्ति के लिए समाज की मर्यादा का उल्लङ्घन न करे। समाज की उन्नति के लिए और उसकी मर्यादा-रक्षा के लिए कठोर नियम बनाये ही जाते हैं। उन नियमों के पालन करने से हममें एक दृढ़ता आती है और साथ ही साथ आत्म-संयम का गुण भी प्राप्त होता है। जिस समाज के मूल में आत्म-त्याग और आत्म-संयम की भावना विद्यमान नहीं है, वह समाज शीघ्र ही पतित हो जाता है। इसी लिए समाज में उच्च आदर्श का प्रचार सभी स्थितियों में आवश्यक है। पतनोन्मुख समाज भी जिन कार्यों के कारण उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है, वही सुधार कहे जाते हैं। समय-समय पर ऐसे सुधार होते रहने से समाज की उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती है।

देश, काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्त्तन हमारे समाज में आवश्यक हैं। संसार परिवर्त्तनशील है, इसी से वह

उन्नतिशील है। स्थिरता जड़ता और अकर्मण्यता की सूचना देती है। जल के प्रवाह को एक ही स्थान में रोक रखने से उसमें विकार उत्पन्न हो जाते हैं। नदी का स्रोत तभी तक निर्मल बना रहता है, जब तक वह लगातार बहता ही चला जाता है। यही हाल हमारे जीवन-प्रवाह का भी है। जीवन की गति रुद्ध होने पर उसमें शैथिल्य, अवसाद और जड़त्व आ जाते हैं। इन्हीं को दूर करने के लिए नये-नये परिवर्त्तन किये जाते हैं, जिससे हममें नवजीवन और नव शक्ति की स्फूर्त्ति आती है।

समाज के भीतर भिन्न-भिन्न स्वभावों के मनुष्यों में संघर्ष न हो, इसी उद्देश्य से गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार हिन्दू-समाज में जाति-भेद की व्यवस्था की गई। इस जाति-भेद से हिन्दू-जाति को लाभ अवश्य हुआ; पर हिन्दू-समाज का विस्तार होने पर और लोगों के अन्य-अन्य स्थानों में आ बसने के कारण इस जाति भेद में संकीर्णता आ गई। जिस संघर्षण को दूर करने के लिए जाति-भेद की व्यवस्था की गई थी, वही संघर्षण समाज में फिर आ गया। बन्धुत्व और समानता के भाव दूर हो गये। प्रतिस्पर्धा और द्वेष के भाव जाग्रत हो गये। सैकड़ों उपजातियाँ बन गईं। इसलिए समाज के नेता उसको दूर करने के लिए समाज का नव-सङ्गठन करना चाहते हैं। यह एक सामाजिक सुधार है, जिसकी चर्चा देश में खूब हो रही है। खान-पान, विवाह आदि में जाति-व्यवस्था के कारण जो एक सङ्कीर्णता आ गई है, उसको दूर करने के लिए कितने ही लोग प्रयत्नशील हो रहे हैं।

बाहर जैसे पुरुषों का आधिपत्य है, वैसे ही भीतर स्त्रियों का प्रभुत्व है। पुरुष जैसे बाह्य शक्ति से वशीभूत करता है, स्त्री उसी तरह अन्तःशक्ति से वशीभूत करती है। इसी लिए स्त्रियों

पर ही धर्म और नीति के उच्चतम आदर्शों की रक्षा निर्भर है। माता से ही पुत्र धर्म और नीति की यथार्थ शिक्षा प्राप्त करता है। इसलिए यह आवश्यक है कि स्त्रियों में हम सेवा, प्रेम और त्याग की उच्चतम अवस्था को देखें। पति की अपेक्षा पत्नी के लिए अधिक कठोर और दृढ़ बन्धन बनाये गये। उसके लिए हिन्दू-समाज में पतिव्रत-धर्म की रक्षा के लिए कितनी ही स्त्रियों ने पति के देहावसान होने पर अपने प्राण त्याग सती की कीर्ति पाई और कितनों ने आजीवन वैधव्य स्वीकार कर सब सुखों को तिलाञ्जलि दे दी। पर कुछ ही समय के बाद बाल-विधवाओं की संख्या बढ़ने लगी और विधवाओं पर अत्याचार होने के कारण जो पतिव्रत-धर्म पहले महिमा का सूचक था, वही एक घोर अन्याय प्रतीत होता है। साठ वर्ष का बूढ़ा मनुष्य अपनी विषय-वासना की तृप्ति के लिए नवयुवती से विवाह कर लेता है और एक १६ वर्ष की विधवा अपना दूसरा विवाह नहीं कर सकती। यह व्यवस्था किसी को भी उचित प्रतीत नहीं हो सकती। इसी लिए आजकल हिन्दू-समाज में विधवा-विवाह का आन्दोलन हो रहा है।

हिन्दू-समाज में ऐसे अन्य कितने ही दोष आ गये हैं, जिनके कारण समाज की बुरी अवस्था हो गई है। उन दोषों को दूर करना ही होगा और नये सुधार करने ही होंगे। इसी लिए समाज में एक सुधारक-दल बन रहा है। समाज में जो एक दृढ़ता रहती है, उसी के कारण तुरन्त कोई भी सुधार नहीं हो जाता। अगर समाज में यह दृढ़ता न हो, तो स्वेच्छाचार और उच्छृङ्खलता का प्राबल्य हो जाय। जिसे सुधारक-दल कट्टरता कहते हैं, वही यह दृढ़ता है। हम लोगों के सामाजिक संस्कार सहसा नष्ट नहीं होते। उन्हीं के द्वारा तो हमारे व्यक्तित्व की पुष्टि होती है।

समाज का सुधार एक बात है और व्यक्ति का सुधार दूसरी बात है। समाज पर दोषारोपण कर हम अपने व्यक्तिगत अपराधो से मुक्त नहीं हो सकते। हममें जो अहंवृत्ति और स्वार्थ-बुद्धि है, उन्हीं के कारण परस्पर सङ्घर्ष होता है। समाज केवल एक मर्यादा, एक व्यवस्था, एक विधान स्थापित कर सकता है; पर व्यक्ति की समस्या बनी ही रहती है। इसलिए कहा जाता है कि हमें पाप से घृणा करनी चाहिए, पापियों से नहीं। संसार म सभी प्रकार के लोग रहते हैं—सभी में कुछ गुण होते हैं और कुछ दोष भी। जब हम किसी का उपहास या निन्दा करते है, तब क्षण भर यह भूल जाते हैं कि हम भी मनुष्य हैं। हममे भी कुछ गुण हैं और कुछ अवगुण। अपने इन गुण-दोषो की भी समीक्षा करना कठिन है; क्योकि हम स्वयं जिन्हे अपने गुण समझते हैं, उन्हीं को दूसरे लोग दोष समझ बैठते हैं। दूसरो में हमें जो दोष दिखाई देते हैं, वे इतने स्पष्ट होते हैं कि हमें यह आश्चर्य होता है कि ये लोग अपने दोषों को देख कैसे नहीं पाते। इसी प्रकार अपने गुणो की भी महिमा हमारे लिए इतनी अधिक होती है कि जो लोग उन्हे देखकर आँख मूँद लेते हैं, उनकी अज्ञता या मूढ़ता पर हमें विस्मय होता है। हमारे लिए हमारे दोष नहीं होते। वे मनुष्यों के लिए स्वाभाविक निर्बलता के परिणाम होते हैं। उनके लिए दूसरों को हमारे प्रति सहानुभूति प्रकट करनी चाहिए। हम पर दया और प्रेम का भाव प्रदर्शित करना चाहिए। दूसरो के विचारों मे यह संकीर्णता, अनुदारता कैसे आ जाती है। अपनी महत्ता के विषय में हमे जैसे सन्देह नहीं है, वैसे ही दूसरों की क्षुद्रता के सम्बन्ध में भी पूर्ण विश्वास रहता है। इसी अहंवृत्ति के कारण समाज की मर्यादा को दृढ़ न रखने से हममें व्यक्तिगत संघर्ष प्रबल हो जाता है।

सुधारक अथवा विज्ञ चाहे कितने ही सुधार करें, अथवा विधि-विधान करें, हम लोगों के व्यक्तिगत जीवन में किसी समय दोष उत्पन्न हो ही जाते हैं। स्त्रियों को शिक्षा न देकर पर्दे में रखने से जो कुफल हुआ, उनके कारण स्त्री-स्वातन्त्र्य और स्त्री-शिक्षा का प्रचार अवश्य हुआ; पर उसने नारी-जाति को उन्नति के शिखर पर नहीं पहुँचा दिया। बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह को रोक देने और विधवा-विवाह प्रचलित कर देने से न व्यभिचार ही कम हुआ और न समाज का रोग ही हटा। बात यह है कि एक व्यक्ति के मनुष्यत्व के मूल में जो शक्ति काम कर रही है, वह अपनी ही रीति से उसे उन्नति अथवा अवनति की ओर ले जा रही है।

सच तो यह है कि व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं को लेकर समाज की आलोचना या सामाजिक जीवन की समीक्षा नहीं हो सकती। व्यक्ति के दोष समाज के दोष नहीं कहे जा सकते। अचला की समस्या मृणालिनी की समस्या नहीं है। उसी प्रकार माया की समस्या चुन्नी की समस्या नहीं है। प्रकृति के विरुद्ध कार्य करने से हमें प्राकृतिक कष्ट होंगे ही; पर उन कष्टों के कारण हम प्रकृति के नियमों का तिरस्कार नहीं कर सकते। मनुष्य-प्रकृति का विचार कर जो समाज की एक मर्यादा स्थापित कर दी गई है, उसका उल्लङ्घन करने पर एक व्यक्ति को कष्ट सहना ही पड़ेगा। इसके कारण समाज की मर्यादा नष्ट नहीं की जानी चाहिए। समाज, राष्ट्र या देश की उन्नति के लिए यह आवश्यक होता है कि उसकी मर्यादा-रक्षा के लिए लोगों में एक दृढ़ता हो। अपने व्यक्तिगत सुखों और स्वार्थों का बलिदान कर हम अपने समाज, देश या राष्ट्र की मर्यादा की रक्षा कर सकते हैं। अतएव सुधार में हमें समस्त मानवीय समाज की प्रकृति का विचार करके मानव-जीवन के उच्चतम आदर्शों के अनुकूल मर्यादा स्थापित करनी

चाहिए। आदर्श यह सूचित करता है कि मनुष्य किस उच्च अवस्था तक पहुँच सकता है। यह आदर्श न रहने से मनुष्यों का पतन अनिवार्य है। अतएव सामाजिक आदर्शों में त्याग, सेवा, सहिष्णुता, संयम आदि सद्गुणों का समावेश होना ही चाहिए। प्राचीन आर्यों के सामाजिक सिद्धान्त मे आदर्श की यही उच्चता थी। वे त्याग के लिए धन का सञ्चय करते थे, सन्तान के लिए विवाह करते थे और सेवा के लिए शासन करते थे। आदर्शों का लोप हो जाने से ही समाज की अवनति होती है। आज जो हम सामाजिक पतन देख रहे हैं, उसका एकमात्र कारण यह है कि हम अपने सामाजिक आदर्शों से च्युत हो रहे हैं।

भारत के सामाजिक आदर्शों के मूल मे जो भावना काम कर रही थी, वह जाति को शक्ति की ओर न ले जाकर धर्म की ओर ले जा रही थी। प्रतिज्ञा-पालन और कर्त्तव्य-पालन की ओर बड़े लोगों का जितना ध्यान था, उतना शक्ति-सञ्चय की ओर नहीं। आर्यों के लिए यह साधारण बात थी कि वे धर्म के लिए अपनी शक्ति को खो दें। भीष्म पितामह अपनी जिस प्रतिज्ञा के कारण भीष्म हुए, वह हम लोगो की दृष्टि में अब अभिनन्दनीय नहीं है। दशरथ का वचन-पालन, रामचन्द्रजी का राज्य-परित्याग अथवा सीता-परित्याग और आधुनिक राजपूत-काल के वीरों के आत्म-त्याग की कथाएँ ऐसी हैं, जो वर्त्तमान युग की दृष्टि से प्रशसनीय नहीं समझी जा सकतीं। संसार के क्षेत्र में पराभव पाकर भी धर्म के क्षेत्र मे विजय पाने की कामनाएँ भारतीय आदर्श मे विद्यमान हैं। कष्ट, वेदना, अपमान आदि सबको सहकर भी भारतीय आर्यों ने अपने आत्म-गौरव की रक्षा की है। उनका यह आत्म-गौरव कर्त्तव्य-पालन पर ही निर्भर था। पर अब आधुनिक युग का दूसरा ही आदर्श है। अब अर्थ की समस्या है,

अधिकार का प्रश्न है। व्यक्ति और समाज, समाज और जाति, जाति और राष्ट्र मे जो अन्तर्द्वन्द्व है, उसके मूल में अर्थ और अधिकार की ही समस्या है। इसके अतिरिक्त राष्ट्र में भी इसी कारण सङ्घर्ष है। प्रेम के ही आधार पर यथार्थ समता हो सकती है, पर उसका आदर्श अभी भविष्य के गर्भ में है।



कला और जीवन

रात में कितनी ही दुश्चिन्ताओं को लेकर मैं सोने गया था। किसी का तिरस्कार, किसी की अवज्ञा, किसी का अपमान—यही सोचते-सोचते मैं सो गया था। एक तो दिन में सूर्य के ताप से हम लोग यों ही सन्तप्त हो जाते हैं। फिर कार्य की व्यग्रता के साथ यदि किसी तरह का मानसिक कष्ट हुआ, तो उद्वेग और भी अधिक हो जाता है। रात में भी दुःस्वप्न होते हैं। पर उस दिन जब मैं सोकर उठा, तब मुझे न कोई चिन्ता थी, न कष्ट। खूब वर्षा हो रही थी। वर्षा-ऋतु में मेघों की श्याम घटा आपसे आप मन में औत्सुक्यपूर्ण भावों की एक घटा ला देती है। पवन की चञ्चल गति मन को अस्थिर कर देती है। जल की तरङ्गें हृदय में भावों की तरङ्गें उत्पन्न कर देती हैं। उस दिन जब मैं प्रातःकाल सोकर उठा, तब मेरे भी मन में एक उमङ्ग-सी उठ रही थी। मैं एक अनिर्वचनीय भाव से पुलकित हो उठा। मुझे ऐसा जान पड़ा कि मैं शान्ति, सुषमा और आनन्द के एक अलसित राज्य में प्रविष्ट हो गया हूँ। मैं खिड़की खोलकर प्रकृति की शोभा देखने लगा। वर्षा के उल्लास में प्रकृति की अपूर्व छटा हो जाती है। नदी कितनी उमङ्ग से बह रही थी। वह मानो अपने आनन्द के वेग को रोक नहीं सकती थी। हरे-हरे वृक्ष, हरी-हरी लताएँ और हरी-हरी भूमि—सभी प्रफुल्ल प्रतीत होते थे। जैसे अब किसी के लिए कोई ताप नहीं, कोई बाधा नहीं। सभी ओर स्वच्छन्दता का साम्राज्य हो गया था। रह-रहकर बिजली चमक उठती थी, बादल गरज उठता था और पवन के जल-मिश्रित झोंके आ जाते थे। मैं भी अकारण

अपनी सारी चिन्ताएँ छोड़कर पद्माकर का एक कवित्त पढ़ने लगा :—

चञ्चल चमाकैं चहुँ ओरन ते चाय-भरी,
चरजि गई थी फेरि चरजन लागी री।
कहै पद्माकर लवङ्गन की लोनी लता,
लरजि गई थी फेरि लरजन लागी री।
कैसे धरौं धीर वीर त्रिविध समीर तन,
तरजि गई थी फेरि तरजनि लागी री।
घुमड़ि घमण्ड घटा घनकी घनेरे आवै,
गरजि गई थी फेरि गरजन लागी रे॥

यही तो जीवन का रस है, यही तो जीवन की कला है, यही तो जीवन की आनन्दमयी स्थिति है। प्रकृति के राज्य में सदैव यौवन का उल्लास रहता है। वहाँ वार्धक्य की चिन्ता नहीं रहती। वहाँ चिर-वैचित्र्य है, चिर-नवीनता है, चिर-सौन्दर्य है। तभी तो प्रकृति के साहचर्य में रहकर कवि अक्षय सौन्दर्य की सृष्टि करता है। तब हम लोगो का संसार कितना तुच्छ और कितना हेय हो जाता है। पर ज्योंही मैं बाहर जाने के लिए तैयार हुआ, त्योंही मुझे स्मरण हुआ कि मेरे पास छाता नहीं है। ऐसी वृष्टि मे छाता न रहने से भावमय सौन्दर्य की तो अवश्य अनुभूति हो सकती है, पर कर्ममय जीवन का काम नहीं चल सकता। मैं रानूदान से छाता लेकर घर से बाहर निकला।

सड़क पर छल-छल, कल-कल कर जल के जो छोटे-छोटे प्रवाह बहने लगे थे, उनके स्वर में जो सङ्गीतमय मधुरता थी, वही उनकी क्षिप्र गति में भी थी। सड़क पर कितने ही बालक स्वच्छन्दतापूर्वक खेल रहे थे। वर्षा-ऋतु का यथार्थ रस वही पा रहे थे। तब तक मैं बागची साहब के घर तक पहुँच गया।

देखा, जयती स्थिर दृष्टि से न जाने क्यो अकाश की ओर देख रही थी। मुझे तो ऐसा जान पड़ा कि वर्षा-काल की प्रकृति-लक्ष्मी ने इसी बालिका का रूप धारण कर लिया है। तभी तो उसकी निविड़ केशराशि और सुदीर्घ नेत्रों में मेघ-घटा की कालीमा थी, मुख पर प्रफुल्ल कमल की ललिमा थी और परिधान में पृथ्वी की हरीतिमा थी। इसी समय शङ्कर का अचानक निमन्त्रण पाकर ज्योंही मैं कमरे के भीतर गया, त्योंही नमिता ने कहा—'मास्टरजी, आज तो छुट्टी होनी चाहिए। ऐसी वर्षा में कौन पढ़ेगा ?' नमिता का कथन बिलकुल सच था। प्रकृति के इस महोत्सव मे यदि हम सम्मिलित नहीं हो सकते, तो हमारे जीवन में उत्सव-काल कब आवेगा ? मैंने कहा—'चार दिनों के बाद ही तो तुम्हारी परीक्षा है।' परीक्षा का नाम लेते ही नमिता चिन्ता में डूब गई। तब उसने अनुभव किया कि जीवन में उत्सव के ही दिन नहीं हैं, परीक्षा के भी दिवस होते हैं। वह चुपचाप किताब लेकर बैठ गई और पढ़ने लगी।

पर बाहर वर्षा की गति नहीं रुकी। कभी-कभी अपनी इस लीला को क्षण भर रोककर वह भी मानो मनुष्यो के तुच्छ कार्यों पर निर्लिप्त दृष्टिपात करती थी और फिर खिलखिलाकर अपनी लीला में मग्न हो जाती थी। स्कूल का काम समाप्त हुआ। रात हो गई। अँधेरा हो गया। पर वर्षा बन्द नहीं हुई। उसकी गति अवश्य मन्द हो गई। क्रमशः अन्धकार बढ़ता ही गया। चारो ओर निशा की निःस्तब्धता छा गई। मुझे वह अन्धकार बड़ा ही रहस्यमय प्रतीत होने लगा। निशा के इस निविड़ अन्धकार में भय और शङ्का के साथ प्रेम और वेदना के भी भाव विलीन रहते हैं। तभी तो जयदेव ने कहा है —

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुव. श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्तं भीरुरयं तदेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।

इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमे
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः ॥

मेघाच्छन्न आकाश, अन्धकारमय पथ, नदी-तट, प्रेम की व्यग्रता, औत्सुक्यपूर्ण प्रतीक्षा, सौन्दर्य का रहस्यमय अवगुण्ठन, नूपुर-ध्वनि आदि से युक्त कल्पना-जगत् के निकुञ्जों में मैं भी न जाने कब तक विचरण करता रहा और न जाने कब सो गया। सहसा लोगों का कोलाहल सुनकर मैं जाग पड़ा। मालूम हुआ कि नदी की बाढ़ मेरे घर तक आ गई है। सभी लोग भागते हैं। कुछ देर के बाद बाढ़ के और अधिक बढ़ जाने से मैं भी अपने घर के सब लोगों को लेकर सेठ मेघराजजी के घर पहुँचा। वहीं हम लोग रात भर रहे। नगर के कितने ही लोग अपना-अपना घर छोड़कर इसी मुहल्ले में आ गये थे। इस समय मेरे हृदय में जो भावनायें उठ रही थीं, उन्हें मैं ही समझ सकता हूँ। शिक्षित और मध्यवित्त गृहस्थ होने के कारण मैं अपने अभावों के कारण एक ग्लानियुक्त उत्ताप का अनुभव कर रहा था। पक्का घर न होने के कारण ऐसे कुसमय में मुझे घर छोड़ना पड़ा। सेठजी की कृपा के कारण मेरे घरवालों को कष्ट अवश्य नहीं हुआ, पर मैं अपने मन में एक अशान्ति, असन्तोष और व्यथा का अनुभव कर रहा था। वहीं कुछ गरीब लोग भी आ गये थे, पर उन्हें कष्ट होने पर भी कोई दुश्चिन्ता नहीं थी।

दूसरे दिन मैं घर आया। नगर का दृश्य सचमुच भयावह था। कितने ही मकान गिर गये। सभी मिट्टी के मकान थे और उनमें गरीब ही लोग रहते थे। राजा साहब की आज्ञा से वे सब स्कूलों और अन्य स्थानों में रहने की जगह पा गये उन्हें अनाज देने का भी प्रबन्ध हुआ और मकान बनाने के लि कुछ रुपये भी दिये गये। स्कूल बन्द हो गया। नगर में ज कोई विपत्ति आती है, तब उसका दुष्परिणाम गरीबों के ही जीव

में देखा जाता है। दुर्भिक्ष में वही मरते हैं। रोगों का प्रकोप होने पर उन्हीं का संहार होता है। बाढ़ या भूकम्प में उन्हीं का सर्वनाश होता है। युद्ध मे भी उन्हीं की अधिक हत्या होती है। फिर भी संसार में उन्हीं की संख्या सबसे अधिक होती है। घास की तरह वे ही सबसे अधिक बढ़ते हैं और सबसे अधिक नष्ट भी होते हैं। संसार में हम लोग जिसे सुख मानते आये है, उस सुख को तो वे जानते ही नहीं। उस सुख पर तो कुछ श्रीमानो का ही अधिकार रहता है। फिर भी यह बात नहीं है कि वे आनन्द का अनुभव ही नहीं करते। मेरी तो साधारण स्थिति है। मै दरिद्र नहीं कहा जा सकता; परन्तु सचमुच जो ग़रीब हैं, उनके साथ मैं बराबर रहता आया हूँ। उन झोपड़ों में आनन्द की वही उज्ज्वल ज्योति है, जो सूर्य के प्रकाश में है, जो उनके आँगनों में पड़ता है। उनकी आवश्यकता थोड़ी ही है, इसी से वे थोड़े मे ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। वे जिस आनन्द के साथ रूखा-सूखा भोजन करते है और चीथड़ो में सोते हैं, वह श्रीमानो को सचमुच दुर्लभ है।

नगरो मे श्रीमानो के विलास और ऐश्वर्य की ओर जनता में जो असन्तोष की भावना बढ़ रही है, वह यथार्थ में ग़रीबो की भावना नहीं है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि वह भावना है मुझ-जैसे शिक्षित मध्यम श्रेणी के लोगों की। मेरे ही घर के नजदीक जो दरिद्र रहते हैं, उनसे मैंने अपनी तुलना कभी नहीं की है। उनकी अवस्था अवश्य हीन है; पर उन लोगों ने 'आदम के ज्ञान का फल' अभी तक नहीं चखा है। इसी से उनके जीवन मे सरलता है, सन्तोष है, सहिष्णुता है और स्नेह है। उनमे नगरो की बुभुक्षा और लोलुपता नहीं है। पर मैं तो ज्ञान का फल चख चुका हूँ। मेरी तो आवश्यकतायें बढ़ गई है। जब मै अपनी आवश्यकताओ की ओर ध्यान देता हूँ, तब मुझे

यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मुझे अपने अभावों की पूर्ति के लिए जो कष्ट उठाना पड़ता है, वह उन्हें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नहीं उठाना पड़ता। मैंने देखा कि बाढ़ के दूसरे ही दिन अधिकांश लोग अपने-अपने कामों में निश्चिन्त होकर लग गये। पर मैं अपनी स्थिति से चिन्तित हूँ, त्रस्त हूँ और उद्विग्न हूँ। केवल दो धोतियों और बासी पर निर्भर रहनेवाली देवकुँवर को मैंने कभी उदास ही नहीं देखा। सोनकुँवर को भी मैंने सभी स्थितियों में प्रसन्न देखा। आश्चर्य की बात तो यह है कि सुमरित के घर में सोकर मुझे भी कोई कष्ट नहीं हुआ। मैंने भी वहाँ एक शान्तिपूर्ण उल्लास का अनुभव किया। यह सच है कि हम लोग अपनी आवश्यकताओं को स्वयं बढ़ा-कर उनकी पूर्ति न होने से चिन्तित और दुःखित होते हैं। पर शिक्षा और सभ्यता के प्रसार ने मेरी इन कृत्रिम आवश्यकताओं को बिल्कुल स्वाभाविक बना दिया है। मैं नहीं समझता कि मैं विलासप्रिय हूँ। मैं अपने को अमितव्ययी भी नहीं समझता; पर यह सच है कि खैरागढ़ ऐसे छोटे ग्राम में भी अपनी आव-श्यकताओं की वृद्धि के कारण मेरा निर्वाह नहीं हो रहा है। यही हाल मेरे ही समान मध्यम श्रेणी के कितने ही अन्य गृहस्थों का है। तभी तो हम सभी अपनी तुलना बड़ों से करते हैं और उनका ऐश्वर्य देखकर अपनी दशा से असन्तुष्ट होते हैं।

आजकल समता का सिद्धान्त जो प्रचलित हो रहा है, उसका आधार प्रेम नहीं, वही सम्पत्ति और प्रभुत्व है। वैज्ञानिकों के ज्ञान और नीतिज्ञों की नीति दोनों का लक्ष्य इसी सम्पत्ति और प्रभुत्व की वृद्धि है। उसी के कारण जीवन में संघर्ष है और देश में युद्ध है। यन्त्रों की वृद्धि हो रही है, उद्योगों की उन्नति हो रही है, व्यवसायों का विस्तार हो रहा है; पर उन्हीं के साथ राष्ट्रों में संघर्ष भी बढ़ रहा है, देश के भीतर अशान्ति भी फैल

रही है। यदि सचमुच में हममें समता और बन्धुत्व का भाव आ जाय, तो यही संसार स्वर्ग हो जाय। पर एकमात्र सम्पत्ति को ही प्रधानता देकर हम लोगो में जो एक असन्तोष और अशान्ति की प्रबलता हो रही है, वह क्या हमें सचमुच सुख और शान्तिके पथ में ले जा रही है?

इन्हीं चिन्ताओं में व्यस्त रहकर जब मैं संन्ध्या-समय नदी-तट पर पहुँचा, तब देखा कि वहाँ कैसी शान्ति है, कैसी शोभा है, कैसा माधुर्य है। रात्रि की भयानकता न-जाने कहाँ विलीन हो गई थी। नदी कल-कल कर बहती जा रही थी। वृक्षो पर पक्षी कलरव कर रहे थे और कुछ नदी मे ही विहार कर रहे थे। पवन भी मन्द-मन्द गति से बह रही थी। सूर्यास्त के कारण आकाश बहुवर्ण-रञ्जित हो गया था। सर्वत्र सौन्दर्य का एक अप्रतिम राज्य था। यहीं तो हम सच्ची शान्ति का अनुभव करते हैं। पर क्या मूक प्रकृति में ही यह सौन्दर्यमय जीवन है? क्या मनुष्यो के जीवन में अभावो के ही कष्ट और चिन्ताओ की ही वेदनाएँ हैं? उसमें क्या कहीं विशुद्ध सौन्दर्य, विशुद्ध आनन्द या विशुद्ध मुक्ति की अवस्था नहीं है? बाह्य जगत् में जिस अलक्षित शक्ति द्वारा अलौकिक सौन्दर्य की सृष्टि होती है, उसने क्या हमारे अन्तर्जगत् में किसी भी सौन्दर्य की रचना नहीं की? वहाँ क्या हिंसा और वासनाओं की ही आँधी उठती है? वहाँ क्या प्रेम की मृदु तरङ्गे नहीं उठती हैं? क्या संसार मे संघर्ष ही सत्य है, सहयोग नहीं? क्या जीवन मे कर्मका चक्र ही यथार्थ है, भाव की कला नहीं? क्रमशः अन्धकार फैल गया और मैं घर लौट आया। पर इस एक ही दिन में मैंने जीवन मे कला का अनुभव किया और कला में जीवन का।

तुम्हारे लिए

पहला पत्र

रात हो गई है। आठ बज चुके हैं। मुझे कोई काम नहीं है। इससे अब एक पत्र लिखना चाहता हूँ। मुझे ठीक तो याद नहीं है; पर किसी विज्ञ ने कहा है कि प्रभात कविता का उपयुक्त काल है, मध्याह्न समालोचना और विवेचना का समय है, सन्ध्या उपन्यास के लिए ठीक है और रात केवल पत्र लिखने के लिए है। उष:काल के साथ मन में एक स्फूर्ति आती है, एक चैतन्य शक्ति प्रकट होती है; वह मोह के आवरण को दूर कर मन को ज्योतिर्मय कर देती है। तब हमें ज्ञात होता है कि संसार में कितना सौन्दर्य है। हृदय प्रकृति के उल्लास से परिपूर्ण हो जाता है, तब चारों ओर एक अपूर्व श्री का माधुर्य फैल जाता है। पवन के मृदु स्पर्श से भावों की तरङ्गे उठने लगती हैं; पक्षियों के कलरव के साथ प्रकृति का अस्फुट सङ्गीत मनुष्यों की वाणी में प्रस्फुटित हो उठता है। मध्याह्न में सूर्य के उत्ताप के साथ मनुष्य की विवेचना-शक्ति भी प्रचण्ड हो जाती है। सूर्यरश्मि की तरह उसकी ज्ञान-रश्मि संसार के रहस्यागार में प्रविष्ट होकर उसकी सभी वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में प्रत्यक्ष करा देती है। उस समय न तो संसार अन्धकारमय रहता है और न जीवन ही रहस्यमय प्रतीत होता है। ज्ञान के उत्ताप में कल्पना वाष्प की तरह उड़ जाती है। जब सन्ध्या आती है, तब वह अपने साथ एक अवसाद लेकर आती है। मनुष्य की कर्म-शक्ति में शिथिलता आ जाती है। वह थक-सा जाता है। तब हृदय किसी मायालोक

में विश्राम करना चाहता है। दिन-भर यथार्थ जगत् में व्यस्त होकर, संसार के भिन्न-भिन्न कार्यों से उद्विग्न होकर, वह क्षण-भर भाव-जगत् मे लीन होना चाहता है। वह कुछ देर अपने कार्यों का भार और अपने उत्तरदायित्व की गुरुता भूल जाना चाहता है। वह अपने कष्टो और प्रयासों को भूलकर आत्म-विस्मृति में ही सुख का अनुभव करना चाहता है। परन्तु जब रात आती है, जब चारों ओर अन्धकार छा जाता है और संसार निःस्तब्ध हो जाता है, तब वह सर्वत्र एक शून्यता का अनुभव करता है। उस समय वह एकान्त मे बैठकर अपने किसी एक सहचर से अपने जीवन के सच्चे सुख-दुःख की बातें कहकर सान्त्वना चाहता है। उस समय वह भ्रम या मिथ्या से अपना मन नहीं बहलाना चाहता। उस समय वह कल्पना के मोह मे नहीं पड़ता। उस समय जिस तरह स्नेहपूर्ण प्रदीप से वह अपने गृह को आलोकित करता है, उसी तरह किसी स्नेहमय सहचर के साहचर्य से अपने हृदय के अन्धकार को दूर करना चाहता है। तभी वह बैठकर पत्र लिखा करता है।

पत्र-साहित्य की यही महत्ता है कि वह आलस्यपूर्ण, अवसाद-पूर्ण और शिथिलतापूर्ण जीवन की रचना है। उसमें रात का आलस्य और अवसाद भरा रहता है। पर इसके साथ ही उसमें प्रदीप की उज्ज्वलता रहती है, स्नेह की तरलता रहती है और रात की एक शान्ति रहती है। अन्धकार और ज्योति की तरह उसमें विषाद और हर्ष दोनो मिले रहते हैं। पत्रो मे हम हँसते हैं और रोते हैं, अथवा यह कहना चाहिए कि हम अपने ही दुःखों पर हँसते हैं, अपने ही दोषों और निर्बलताओं का उपहास करते हैं, अपनी ही निन्दा करते हैं, अपनी ही निष्फलता पर रोते हैं, और अन्य लोगों के लिए जो बिलकुल अनावश्यक और व्यर्थ बातें हैं, उन्हीं को कहकर हम क्षण-भर स्वयं प्रसन्न होते है और दूसरों को प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं।

पत्रों की महत्ता के सम्बन्ध में मैंने अँगरेजी में एक कहानी पढ़ी थी। एक बार कोई युवक बीमार पड़ गया। उसके डाक्टर ने उस युवक के मित्र को कहा कि रोगी का कष्ट दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि उसका मन किसी रचना-कार्य में लगाया जाय, जिसमें उसका मन भी बहले और उसे प्रयास भी न पड़े। अतएव उसने उस मित्र को रोगी के पास पत्र भेजने के लिए कहा। मित्र ने उस युवक का मन बहलाने और उसे रचना-कार्य में प्रवृत्त करने के लिए यह सोचा कि उसके पास प्रेम-कथा के रूप में कुछ लिखा जाय। उसके पड़ोस में एक सुन्दर युवती थी। उसने पहले पत्र में उस युवती के सौन्दर्य का वर्णन किया। इसके बाद उसने जो पत्र भेजे, उसमें यह प्रमाणित कर दिया कि अज्ञात और अपरिचित होने पर भी वह युवती उसी रोगी युवक पर आसक्त हो गई है, जिसको उसने देखा तक नहीं है। युवक ने उन पत्रों पर विश्वास कर लिया। कौन युवक अपनी तरुणावस्था में यह नहीं समझता कि वह किसी भी युवती का प्रेम-पात्र होने के योग्य नहीं है? दवा से अधिक लाभ उन पत्रों से हुआ। वह युवक बिलकुल स्वस्थ हो गया और फिर अपनी उस कल्पित प्रियतमा से मिलने के लिए व्यग्र हो गया। तब मित्र महोदय घबड़ा गए और अन्त में उन्होंने पत्र द्वारा उस युवक को यह सूचित किया कि उन्होंने केवल उसका मन बहलाने के लिए यह प्रेम-कथा गढ़ी थी। केवल पत्रों द्वारा प्रेम हो जाने की यही एक कथा नहीं है। एक कथा में तो यहाँ तक कहा गया है कि जिन युवक-युवती में पहले घोर विरोध था, वही जब अज्ञात रूप से परस्पर पत्र-व्यवहार करने लगे, तब दोनों में दृढ़ प्रेम हो गया। दोनों मिलने के लिए अधीर हो गये। साक्षात्कार होने पर पहले तो दोनों में झगड़ा हुआ; पर पीछे भेद खुलने पर दोनों में प्रेम हो गया।

बात यह है कि पत्र की तरह प्रेम भी निशा-काल की सृष्टि है। वह भी एक मोह है। वह भी एक चिन्ताहीन अवस्था का फल है।

पर सभी पत्र ऐसे नहीं लिखे जाते हैं। दिन के प्रकाश में जो पत्र लिखे जाते हैं, उनमें दिन की ही व्यग्रता रहती है। उनमें जीवन की क्षिप्र गति रहती है। दिन में किसे अतीत की सुधि रहती है या भविष्य का विचार? उस समय हम सभी वर्तमान में ही व्यस्त रहते हैं, इसलिए दिन के पत्रों में कर्त्तव्यों की गुरुता रहती है। उन्हीं पर संसार का व्यवसाय निर्भर रहता है। उन्हीं से संसार का चक्र घूमता रहता है। ऐसे पत्रों से संसार का जीवन-निर्वाह होता है। यहाँ मैं केवल उन्हीं पत्रों की बात कह रहा हूँ, जिन्हें हम अपने घर के एक कोने में अकेले बैठकर रात में अपने किसी सहचर के लिए लिखते हैं। उन पत्रों से जीवन-निर्वाह नहीं होता। वे सर्वथा अनावश्यक होते हैं। उनमें ज्ञान की गरिमा नहीं रहती। पर इसी लिए हम उन्हें लिखते हैं, और उन्हें पाकर हमें प्रसन्नता होती है।

ऐसे अनावश्यक कार्यों में समय का अपव्यय विज्ञों द्वारा सम्भव नहीं है। वे लोग तो आवश्यक कार्य ही करते हैं और आवश्यक बातों की ही चर्चा करते हैं। ऐसे विज्ञों को कभी अवकाश नहीं रहता। उनका जीवन एक दीर्घ कार्य-काल रहता है। परन्तु संसार में ऐसे कितने ही लोग हैं, जिन्हें समय का यह सदुपयोग अच्छा नहीं लगता। उनके लिए आलस्य की भी एक स्थिति है। आवश्यक कार्यों के भार से दबकर वे अनावश्यक कार्यों से अपना मन बहलाते हैं।

आलस्य मनुष्यों का सबसे बड़ा शरीरस्थ रिपु माना गया है। उद्योग से बढ़कर हम लोगों का कोई मित्र नहीं। नीति की यह बात हम सभी लोग जानते हैं, तो भी आलस्य की स्थिति

के लिए हम लोगों के हृदय में एक चाह अवश्य होती है। मैं तो यह कहता हूँ कि आलस्य की उसी स्थिति में विशुद्ध आनन्द की प्राप्ति होती है। साहित्य-शास्त्र में जिसे रस की अनुभूति कहते हैं, वह मन की इसी आलस्यमयी प्रवृत्ति में उपलब्ध होती है।

जीवन-धारण के लिए भोजन आवश्यक है। भूख लगने पर चाहे जैसा भी भोजन हो, हम खा लेते हैं, और वह हमें अच्छा भी लगता है। तो भी मिष्टान्नों के लिए हम सब व्यग्र रहते हैं। पर किससे यह बात छिपी हुई है कि मधुर व्यञ्जनों से ही हमें सदैव तृप्ति नहीं होती। हम कटु, तिक्त, कषाय, आम्ल आदि रस की भी इच्छा करते हैं। लवण तो इतना रुचिकर होता है कि उसी के कारण लावण्य यथार्थ सुन्दरता का बोधक हो गया है। जिह्वा की तरह मन भी वैचित्र्य चाहता है। इसीलिए भोजन के लिए जैसे षट्रस माने गए हैं, वैसे ही साहित्य के लिए नौ रसों का निर्माण हुआ है। पर एक रस की बात पाक-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र दोनों के आचार्य भूल गये हैं। षट्रसपूर्ण कैसा भी भोजन क्यों न बनाया जाय, यदि क्षुधा नहीं है, तो उसकी ओर हम दृष्टिपात तक नहीं करते। उसी प्रकार मानसिक क्षुधा न रहने से कालिदास, भवभूति, होमर और शेक्सपियर की भी नवरसमयी कविता से हमें विरक्ति हो जाती है। ऐसी स्थिति के लिए विज्ञों ने कोई रस-निर्माण नहीं किया; पर मनुष्यों ने स्वयं उसके लिए रस खोज निकाला है। पेट भर जाने के बाद हम तम्बाकू पीते हैं, किसी न किसी रूप में उसका सेवन करते हैं। भूख हो या न हो, तम्बाकू अनावश्यक होने के कारण सभी स्थितियों में स्पृहणीय है। इसी प्रकार कोई मानसिक क्षुधा न रहने पर भी हम पत्र अवश्य पढ़ना चाहते हैं। सभ्यता की वृद्धि होने से जैसे तम्बाकू के साथ अब चाय का मेल हो गया है,

वैसे ही पत्रों के साथ और भी अनावश्यक पठनीय सामग्री तैयार होने लगी है। ये सभी वस्तुएँ अनावश्यक होने के कारण बड़ी आवश्यक हो गई हैं। उस दिन मास्टर के प्रश्न के उत्तर में जब इन्दु ने यह कहा कि 'चाय, पान और सिगरेट' यही जीवन की आवश्यक चीजें हैं, तब सब लोग हँसने लगे। पर है यही बात सच्ची। यही बात इँग्लैंड के प्रसिद्ध प्रधान-सचिव बालफोर साहब ने भी कही है। रोटी, दाल आदि वस्तुओं की आवश्यकता तो भूख लगने पर ही होती है; पर चाय और सिगरेट की सदैव आवश्यकता बनी रहती है। क्या चाय, क्या पान, क्या सिगरेट और क्या पत्र—ये सभी विशुद्ध आनन्द की सामग्री हैं। वे हमारी स्वच्छन्द अवस्था के सहचर हैं। वे ही हमें कर्त्तव्यों के बन्धन, सेवा के भार और गृह की चिन्ता से मुक्ति दिलाते हैं। उन्हीं के कारण हम यह समझते हैं कि हम सिर्फ मास्टर या क्लर्क ही नहीं हैं, हम मनुष्य भी हैं। उन्हीं के कारण हम यह अनुभव करते हैं कि यह जीवन सिर्फ कामों के लिए नहीं है, जीवित रहने के लिए भी है। अभाव के कष्ट और चिन्ता की वेदना सहने के लिए ही हम यहाँ नहीं आये हैं। हमें कुछ विनोद, कुछ प्रमोद, कुछ हर्ष और कुछ प्रसन्नता भी तो चाहिए। साहित्य के क्षेत्र में तिरस्करणीय होने पर हम कुछ तो ऐसा लिखें, जिसे कोई एक तो चाव से पढ़े। इसी लिए अपने घर के एक कोने में रात के समय चुपचाप बैठकर मैं भी अपने ही सुख के लिए, अपने ही आदर के लिए, अपने ही गौरव के लिए यह पत्र लिख रहा हूँ।

काम पड़ने पर तो सभी को पत्र लिखना पड़ता है। पिता-पुत्र को लिखता है, पुत्र पिता को लिखता है, पति स्त्री के लिए पत्र भेजता है और स्त्री पति के लिए पत्र भेजती है। मित्र-मित्र में, बन्धु-बान्धव में, प्रभु-भृत्य में परस्पर पत्र व्यवहार होता है। जिनका जिनसे जैसा सम्बन्ध रहता है, वे उनको वैसा ही पत्र

लिखते हैं। उनमें काम की बातें रहती हैं, व्यवसाय की चर्चा रहती है, लाभ-हानि का निरूपण होता है, अच्छे और बुरे की मीमांसा रहती है। उनमें उपदेश रहता है और आदेश भी। प्रार्थना रहती है और तिरस्कार भी। झूठ रहता है और सच भी। पर ये सभी बातें जरूरत पड़ने पर लिखी जाती हैं। जरूरत पड़ने पर हम किसी की निन्दा करते है और किसी की स्तुति। जब जैसी स्थिति होती है, तब वैसा ही पत्र लिखते हैं। उनमें विनय और गर्व, दया और क्रोध, प्रेम और घृणा आदि सभी भाव रहते हैं। मैंने भी अभी तक ऐसे सैकड़ों पत्र लिखे हैं और पाए हैं। पर आज मैं किसी जरूरत से यह पत्र नहीं लिख रहा हूँ। आज मैं सिर्फ लिखने की इच्छा से ही यह पत्र लिख रहा हूँ। आज मैं बिना मतलब, बिना प्रयोजन यह पत्र भेज रहा हूँ।

यह सच है कि मुझे भी कई काम और चिन्ताएँ हैं। अपनी इन चिन्ताओं में मैं सदैव डूबा रहता हूँ। तो भी मैं यह अनुभव करता हूँ कि इन सब चिन्ताओं से मुक्त मेरा एक जीवन है। वहाँ मैं सबसे पृथक् हूँ। वहाँ मैं बिलकुल अकेला हूँ। वहाँ मैं स्वच्छन्द हूँ। वहाँ मैं अपने ही भावों को लेकर अपने में ही लीन रहता हूँ। वहाँ एक ओर अखिल विश्व है और दूसरी ओर मैं हूँ। वहाँ मैं उत्तम पुरुष हूँ और बाकी सब अन्य पुरुष हैं। और अब तुमको मध्यम पुरुष मानकर अपनी उसी अवस्था की बातें तुमको सुनाना चाहता हूँ। अभी तक बनाकर, सोचकर, बातें तो करता ही आया हूँ। संसार में ऐसी कृत्रिम बातें करनी ही पड़ती हैं। मन में रहता है कुछ और, पर हम लोग लिखते हैं कुछ और। मैं यहाँ यह चाहता हूँ कि मैं वही लिखूँ, जो मेरे मन में है। दूसरों की झूठी प्रशंसा और स्तुति तो मैं यथेष्ट कर चुका। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए भी जब

मैंने जैसा ठीक समझा, लिखा। पर अब यह मेरे जीवन का सन्ध्या-काल है। न-जाने जीवन का कब निशा-काल आ जावे, मेरे लिए संसार तमोमय हो जाय, कब यह क्षीण जीवन-प्रदीप बुझ जाय और मैं अनन्त निद्रा में अभिभूत हो जाऊँ। इसी लिए मेरी यह इच्छा होती है कि किसी एक को मैं अपने मन की सच्ची बातें कहूँ। सब के लिए जो बात लिखी जायगी, वह सच्ची नहीं रहेगी। हम उसमें कुछ न कुछ झूठ का अंश मिला ही देते हैं। इसलिए मैं ये बातें सब के लिए नहीं लिखना चाहता। उनके लिए तो मैंने और बातें लिखी हैं। मैंने तुम्हीं को अपनी ये व्यर्थ बातें सुनाने के लिए चुना है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि शायद तुम्हीं मेरी इन बातों को सुनो। यही सोचकर मैं तुम्हें यह पहला पत्र लिख रहा हूँ। तुम्हारा उत्तर पाने पर मुझे परितोष होगा; पर उत्तर न मिलने पर भी मुझे सन्तोष होगा, क्योंकि मैंने जो कुछ लिखा है, वह अपने ही लिए लिखा है, स्वान्तःसुखाय लिखा है।

दूसरा पत्र

यह वर्ष भी व्यतीत हुआ। ऐसे कितने ही वर्ष व्यतीत हो गये और न जाने कितने वर्ष अभी और व्यतीत करने होंगे। जब तक जीवन है, तब तक हम लोग दिन, मास और वर्ष की गणना करते हैं। एक दिन जब महाकाल का निमन्त्रण आता है, तब दिन और वर्ष की यह गणना भी समाप्त हो जाती है और हम लोग अनन्त काल के अनन्त गर्त्त में चुपचाप विलीन हो जाते हैं।

हम लोग चाहे कुछ करें या न करें, वर्ष योंही आयगा और योंही चला जायगा। समय की गति को कौन रोक सकता है? वर्ष के आरम्भ में हम लोग कितनी ही बातें सोचते हैं,

कितनी ही इच्छाएँ करते हैं, कितनी ही आशाएँ रखते हैं और कितनी ही योजनाएँ बनाते हैं; परन्तु हम लोगों की अधिकांश बातें अपूर्ण रह जाती हैं, और वर्ष चला जाता है। अपनी बुद्धि, अपनी शक्ति और अपनी क्षमता पर विश्वास कर हम लोग भविष्य के लिए कल्पना का जो एक भव्य भवन निर्मित करते हैं, उसे काल हँसते हँसते एक पल में ढहा देता है। तो भी हम लोगों की आशाओं का अन्त नहीं होता। हम लोग उन्हीं अपूर्ण इच्छाओं और भग्न आशाओं के ऊपर कामना का फिर नया भवन निर्माण करने में लग जाते हैं। अतीत की सफलता से हममें उत्साह आता है और नई शक्ति आती है; किन्तु अतीत की विफलता से भी हमें जो अनुभव होता है, उससे हम अपनी अक्षमता को दूर कर अपनी क्षमता को बढ़ा लेते हैं। इस प्रकार सफलता और वफलता दोनों से हमें नई स्फूर्ति मिलती है और हम लोग फिर अपने कामों में व्यस्त हो जाते हैं। विषाद और नैराश्य के होते हुए भी हम लोग अपने कार्यों से विरक्त नहीं होते। अन्त तक हम लोग कार्य करते ही रहते हैं। काल की प्रेरणा ही ऐसी है। जीवन की प्रकृति ही ऐसी है। कार्य का चक्र ही ऐसा होता है।

एक वर्ष का समय कुछ अधिक नहीं होता। कष्ट में हम भले ही यह अनुभव करें कि हमारे लिए एक-एक क्षण एक-एक युग की तरह व्यतीत हो रहा है; पर जब समय चला जाता है, तब किसी को भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वह दीर्घकाल था। मेरे जीवन के कितने ही वर्ष व्यतीत हो गये; पर सच पूछिए, तो मुझे अब यह जान ही नहीं पड़ता कि इतने वर्ष कैसे व्यतीत हो गये। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो अभी हाल में ही सब बातें हुई हैं। अभी हाल में ही मैं पढ़ता था, अभी हाल में ही मैं प्रयाग में काम करता था, अभी हाल में ही मैं शिमला को

पढ़ाता था, अभी हाल में ही तो मेरे जीवन की सभी घटनाएँ हुई हैं। उन दिन जब मैंने विमला को देखा, तब मैं स्वयं अचरज में पड़ गया। मैं तो उसे पहचान ही न सका। कितनी बड़ी हो गई है वह, और कितनी गम्भीर, कितनी सुशील, कितनी लज्जाशीला! मैं तो अवाक् रह गया। जिसके उत्पातों की हद नहीं थी, जिसकी चञ्चलता की सीमा नहीं थी, जिसकी बातो का अन्त नहीं था, उसमें यह शील, यह गाम्भीर्य और यह संयम आ कैसे गया? काल ने उस पर जादू की यह छड़ी कैसे फेर दी? और तब मुझे भी यह ज्ञात हुआ कि काल की यह जादू की छड़ी मुझ पर भी फेर दी गई है, और मैं भी कुछ दूसरा हो गया हूँ। काल की चाहे जैसी गति हो, यह तो स्पष्ट है कि यह वर्ष गया और वह अपने साथ न जाने कितनी अपूर्ण इच्छाएँ, सदुद्देश, सुअवसर और शुभ कामनाएँ लेकर चला गया। इसके साथ ही कितनों की घृणा, क्रोध और शत्रुता की भावनाएँ भी नष्ट हो गईं। वर्ष के अन्त मे होली की अग्नि के साथ हम लोगों की भी कितनी ही कामनाएँ दग्ध हो जाती हैं और वर्ष के प्रारम्भ में प्रकृति की नवश्री के साथ नव आशाएँ फिर प्रस्फुटित हो जाती हैं।

युग की आत्मा किसी एक में ही प्रकट होती है। युग का सन्देश किसी एक की वाणी से निःसृत होता है। युग का प्रवर्त्तक कोई एक ही होता है। युग की शक्ति किसी एक मे ही केन्द्रीभूत होती है। ऐसों का प्रभाव अक्षय होता है। वह देश-काल का अतिक्रमण कर चिरन्तन हो जाता है। जब इनसे देश और युग के आदर्श निर्मित होते हैं, तब एक प्रचण्ड लहर की तरह एक नई भावना हम लोगो के जीवन को विक्षुब्ध कर देती है। चारों ओर एक अशान्ति, एक उत्तेजना, एक असन्तोष, एक व्याकुलता, एक आशङ्का फैल जाती है। यही क्रान्ति है। पर

इस क्रान्ति में भी जीवन के क्षुद्र व्यापार होते ही रहते हैं। अधिकांश लोग अपने-अपने दैनिक जीवन के कार्यों में व्यस्त ही रहते हैं। उन्हें अपनी दैनिक आवश्यकताओं की चिन्ता करनी ही पड़ती है। आँधी में कितने ही घर उजड़ जाते हैं, युद्ध में कितने ही ग्राम नष्ट हो जाते हैं, विप्लव और क्रान्ति में कितने ही मनुष्यों का बलिदान हो जाता है; पर सर्वसाधारण का यह चिरन्तन जीवन-प्रवाह रुद्ध नहीं होता। उनके क्षुद्र जीवन की क्षुद्र स्वार्थ-चिन्ताएँ बनी ही रहती हैं। उस समय भी क्षुद्र सुख-दु:ख की क्षुद्र घटनाएँ होती ही रहती हैं। कोई आये, कोई जाय, जीवन का यह प्रवाह बहता ही रहता है। कहा जाता है कि कुरुक्षेत्र के महाभयङ्कर समर में जब एक ओर भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि महावीरों का संहार हो रहा था, तब वहीं एक क्षुद्र पक्षी का क्षुद्र जीवन विकसित हो रहा था। संसार का ध्यान उस महायुद्ध की ओर लगा हुआ था। परन्तु जो जगन्नियन्ता है, उसे उस पक्षी के अण्डे की चिन्ता थी। तभी तो उस प्रलयङ्कर युद्ध में वह अण्डा एक घण्टे के कारण सुरक्षित बना रहा। यह चाहे कथा ही हो; पर इसमें सन्देह नहीं कि जब संसार में एक ओर एक से एक भयङ्कर घटनाएँ हो रही हैं, तब दूसरी ओर जीवन के साधारण काम भी होते रहते हैं। जो लोग उन साधारण कामों में लगे रहते हैं, उनके लिए संसार की अन्य कोई घटना उससे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होती। जब महात्मा गांधी की जेल-यात्रा के कारण देश-भर में एक आशङ्का-सी छा गई थी, तब क्या किसी गाँव में शहनाई की मधुर ध्वनि किसी वरवधू के मिलन की आकांक्षा नहीं प्रकट कर रही थी? जब बङ्गाल में दुर्भिक्ष के कारण कितने ही मनुष्य हाहाकार कर रहे थे, जब यूरोप में युद्ध की प्रचण्ड अग्नि धधक रही थी, तब क्या किसी के यहाँ पूजा नहीं हो रही थी, उत्सव नहीं हो रहा था, सुख-दु:ख की

घटनाएँ नहीं हो रही थीं ? फ्रांस की राज्यक्रान्ति में 'लूसी' को अपने 'चार्ल्स डारेन' की ही तो चिन्ता थी। उसकी प्राण-रक्षा उसके लिए फ्रांस के राज्यसिंहासन की रक्षा से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थी। कई वर्षों से महासमर की विभीषिका देखकर, कांग्रेस, मुस्लिम-लीग और हिन्दू महासभा का कार्यक्रम जानकर, दुर्भिक्ष के आतङ्क का अनुभव करने पर भी अधिकांश लोग अपने-अपने कार्यों में निरत ही हैं। विवाह होते हैं, उत्सव होते हैं और जीवन-मरण की सभी लीलायें होती हैं। सिनेमा में लोग जैसे प्रेम की लीला देखते हैं, पत्रों में प्रेम की कथाएँ पढ़ते है, उसी तरह ससार की अन्य घटनाओं का विवरण सुनकर सभी को एक कौतुक होता है। जिनसे हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, जिनका प्रभाव हमारे व्यक्तिगत जीवन पर पड़ता है, जिनके कारण हमें दैनिक जीवन में क्षोभ होता है, उन्हीं की उपेक्षा हम नहीं कर सकते। किस क्रान्ति में अपने पुत्र और कन्या के लिए पिता की चिन्ता दूर हो गई है ? किस विप्लव में माता का स्नेह या पत्नी का प्रणय विलीन हो गया है ? किस युग-परिवर्त्तन में साधारण लोगो को अपने-अपने जीवन की साधारण बातें कम महत्त्वपूर्ण ज्ञात हुई हैं ? अन्य लोगों मे स्वार्थ-चिन्ता देखकर हम भले ही उसका तिरस्कार करें; पर यह बात तो सच है कि सर्वसाधारण अपने व्यक्तिगत जीवन से विरक्त नहीं होते। अपनी ही क्षुद्र या महत् आकांक्षा से प्रेरित होकर हम काम करते हैं, अपनी ही उद्देश्य-सिद्धि के लिए हम सब प्रयत्नशील हैं।

इस वर्ष के भीतर संसार में सुख-दुःख की कितनी ही घटनाएँ हुईं। महायुद्ध की भीषण गति थी। युद्ध के साथ दुर्भिक्ष का भी प्रकोप था और रोगों की भी प्रबलता थी। उत्पात भी कम नहीं हुए। देश में अशान्ति और असन्तोष का वातावरण रहा। पर संसार की इन बड़ी-बड़ी घटनाओं को हम लोग अपनी-अपनी

भावना के अनुसार हर्ष या शोक, अनुराग या विराग, उत्सुकता या उपेक्षा के साथ देखा करते हैं। इस एक वर्ष के भीतर युद्ध का जो आतङ्क किसी एक को हुआ, दुर्भिक्ष का जो प्रकोप किसी एक को सहना पड़ा, लाभ-हानि का जो अनुभव किसी एक को हुआ, उसके लिए वही एकमात्र सत्य है। और उसी के अनुसार वह अपने जीवन के इस एक वर्ष को सुखद या दुःखद कहेगा। इतिहास और कथा में यही तो भेद है। इतिहास राष्ट्र के जीवन का, उसके उत्थान-पतन और विकास-ह्रास का विचार करता है और कथा किसी एक के जीवन के सुख-दुःख का वर्णन करती है। संसार की किसी भी महत्त्वपूर्ण घटना में हम लोग अपने व्यक्तिगत जीवन की उपेक्षा नहीं कर सकते। गत वर्ष जब कितने ही लोग यथार्थ जगत् की कठोरता से त्रस्त थे, तब मैं छाया के प्रेम-माधुर्य में ही व्यस्त था।

साहित्य में सभी रचनाओं का स्थायी महत्त्व नहीं रहता। अधिकांश रचनाएँ क्षणिक ही होती हैं। उनका महत्त्व अल्प-कालीन होता है। जो श्रेष्ठ लेखक होते हैं, उनकी भी सभी रचनाएँ श्रेष्ठ नहीं होतीं। साहित्य में अच्छी और बुरी सभी प्रकार की रचनाएँ निकलती हैं। कुछ के द्वारा आदर्श का निर्माण होता है, कुछ के द्वारा लोक-रुचि और लोक-शिक्षा का प्रसार होता है; पर अधिकांश किसी सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए या किसी मत का समर्थन करने के लिए या किसी का पक्ष पुष्ट करने के लिए या किसी का गौरव बढ़ाने के लिए या लोगों में उत्तेजना फैलाकर उनका मन बहलाने के लिए लिखी जाती है। कितनी ही रचनाएँ विज्ञापन का काम करती हैं। इसी लिए साहित्य दो भागों में विभक्त कर दिया गया है—एक स्थायी साहित्य है और दूसरा सामयिक साहित्य। स्थायी साहित्य में सत्य के चिरन्तन आदर्शों की सृष्टि होती है और सामयिक साहित्य में

आदर्शों का प्रचार होता है। स्थायी साहित्य आनन्द की वस्तु है और सामयिक साहित्य हम लोगों के लिए काम की चीज है। स्थायी साहित्य साधना का फल है और सामयिक साहित्य व्यवसाय का साधन है। सामयिक साहित्य चाहे किसी रूप में निकले, वह चाहे दैनिक हो या साप्ताहिक हो या मासिक हो, इसके मूल में यही भाव काम करता है।

अपने-अपने समय के अनुसार इन पत्रों के एक-एक अङ्क का जीवन-काल एक दिन, एक सप्ताह या एक मास का होता है। इसकी अधिकांश रचनाएँ पाठकों का क्षणिक मनोविनोद करने के लिए प्रकाशित होती हैं। जिन विषयों की ओर सर्वसाधारण का ध्यान रहता है, जिनकी ओर रुचि रहती है, जिनसे कौतूहल होता है, जिनसे उनको कुछ उत्तेजना होती है, उन्हीं विषयों का समावेश पत्रों में किया जाता है। इसके साथ ही लोक शिक्षा का प्रचार होता है और नये आदर्शों का भी प्रसार होता है। अप्रसिद्धों की प्रसिद्धि होती है, प्रसिद्धों की कीर्त्ति-कौमुदी फैलती है और कीर्त्तिमान् लोगों का यशोगान किया जाता है। स्वार्थ और परार्थ दोनों की सिद्धि के लिए चेष्टा की जाती है। सेवा और उन्नति दोनों के पथ प्रदर्शित होते हैं। निन्दा और स्तुति दोनों से उद्देश की पूर्त्ति होती है। इस प्रकार सामयिक साहित्य से एक नहीं, अनेक लाभ होते हैं।

१९२० में मैं 'सरस्वती' का काम करने के लिए नियुक्त हुआ था। १९२० और १९४३ में बड़ा भेद हो गया है। उस समय साहित्य में लोक-शिक्षा की भावना काम कर रही थी, अब कला की भावना काम कर रही है। विश्वविद्यालयों में हिन्दी-साहित्य की उच्च शिक्षा प्रचलित हो जाने का एक सुफल यह हुआ कि कितने ही उच्च-शिक्षा-प्राप्त युवकों में अपनी मातृभाषा के प्रति एक विशेष अनुराग उत्पन्न हो गया। पाश्चात्य साहित्य के उच्च आदर्शों से परिचित

होने के कारण उन लोगों के द्वारा हिन्दी-साहित्य में नये-नये आदर्शों की सृष्टि होने लगी। छायावाद, मधुवाद और क्रान्तिवाद उन्हीं की रचना है। सच तो यह है कि आधुनिक हिन्दी का प्रगतिशील साहित्य तरुणों का ही साहित्य है। उसमें तरुणावस्था के सभी भाव विद्यमान हैं। उसमें वही आवेश, वही स्फूर्ति, वही उमङ्ग, वही आशा और वही विश्वास की दृढ़ता है। इसके साथ ही इसमें वही कल्पना, वही भावुकता और वही स्वच्छन्दता है। तरुणों के लिए भविष्य उज्ज्वल होता है, संसार उनके लिए कौतुकागार होता है, रमणी उनके लिए रहस्यमयी किशोरी होती है, जीवन इनके लिए एक लीला है, प्रेम उस लीला का अवसान है। कर्त्तव्य की गुरुता और नियमों का कठोर बन्धन तरुणों के लिए नहीं है। उन्हें अपने स्वप्नों की मधुरता में सत्य की यथार्थता प्रतीत होती है। कल्पना का सौन्दर्य उन्हें अनुभूति की कठोरता से विरक्त करा देता है। वे यही सोचते हैं कि भले ही ऐसा न हो; पर यदि ऐसा हो, तो क्या अच्छा न होगा? वर्त्तमान से उन्हें असन्तोष होता है, नवीनता के लिए एक व्यग्रता होती है और तभी क्रान्ति की एक भावना जाग्रत होती है। हिन्दी-साहित्य में क्रान्ति की जो भावना फैल रही है वह तरुणों की ही सृष्टि है। यही कारण है कि यह क्रान्ति केवल कल्पना के क्षेत्र में है, ज्ञान के क्षेत्र में नहीं। यह सच है कि समस्त संसार के क्या राजनैतिक और क्या सामाजिक दोनों क्षेत्रों में एक क्रान्ति हो रही है; परन्तु उसके मूल में ज्ञान और अनुभव की वह शक्ति काम कर रही है, जो सत्य की कसौटी पर जीवन की परीक्षा करती है। संसार में अर्थ की समस्या है; व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का प्रश्न है; धर्म, नीति और अधिकार के सामञ्जस्य-विधान की कठिनता है। हिन्दी में जो क्रान्ति आई है, उसमें अभी तक एक कृत्रिम भावुकता है। हम हिन्दी-साहित्य में जो पीड़ा, वेदना, निःश्वास, उच्छ्वास या हुंकार पा रहे हैं, वह यथार्थ

में उस कर्म-शून्य भावुकता का फल है, जो केवल तरुणावस्था में स्पृहणीय होती है। यही कारण है कि हिन्दी की अधिकांश आख्यायिकाओं में कल्पित लोक के कल्पित पात्रों की कल्पित समस्याएँ रहती हैं। जीवन के अन्धकारमय भाग में प्रकाश डालने से जीवन का जो रूप प्रदर्शित होगा, उसमें हम राजलक्ष्मी की जगह 'मैडम बावेरी' ही देखेंगे।

मुझे इस वर्ष जो कहानियाँ पढ़ने को मिलीं, उनमें मैंने यही अनुभव किया कि भाषा के विन्यास की ओर लेखकों का जितना ध्यान रहता है, उतना कथावस्तु के विन्यास की ओर नहीं रहता। उनकी कहानियों में शब्दों की जो एक कवित्वपूर्ण छटा रहती है और शैली की जो एक अलङ्कारमयी सुन्दरता रहती है, उससे हम एक रहस्यमय, प्रेममय, आवेगमय लोक का आभास भले ही पा लें; पर उनका वह जगत् हम लोगों का जगत् नहीं रहता। उनके पात्रों के जीवन में जीवन की सच्ची झलक नहीं आ पाती। उनके प्रेम, वियोग, वेदना, कष्ट, अत्याचार और दैन्यावस्था सभी का एक अतिरञ्जित वर्णन रहता है। हम अतिशयोक्ति का तभी आश्रय लेते हैं, जब हम अपने मन में यह अनुभव करते हैं कि यथार्थ स्थिति का वर्णन करने से हम किसी श्रोता या पाठक की सहानुभूति नहीं पाते। यही कारण है कि अधिकांश लेखक कल्पना के अत्याचार में ही व्यस्त रहते हैं। उनकी सहानुभूति उस वेश्या की ओर जाती है, जिसका यौवन ढल चुका है और जिसके गले में अब दर्द नहीं है। वे उस भाभी के लिए पीड़ित होते हैं, जो विधवा होने के कारण एक रङ्गीन साड़ी पहनने की लालसा न रोककर असह्य दण्ड सहती है। वे उन अभागों के लिए द्रवीभूत होते हैं, जो मातृ-पितृ-हीन होने के कारण किसी नाले में बह गये। वे उस त्याग, उस प्रेम और उस प्रतिज्ञा-पालन की महिमा का वर्णन करते हैं, जो कल्पना-जगत् में ही

सुलभ है। उन्हें सत्य से अनुराग नहीं है, क्योंकि सत्य में भावुकता नहीं है, विलक्षणता नहीं है, अलौकिकता नहीं है। वह इतना सरल और स्पष्ट है कि अतिशयोक्ति के लिए स्थान नहीं है। नवीनता और विलक्षणता में कला की सार्थकता नहीं, शैली की कृत्रिमता और भावों की जटिलता में पड़कर सत्य का रूप विकृत हो रहा है। यही कारण है कि कथा-साहित्य में कला का चमत्कार प्रदर्शित करने की चेष्टा में हम सत्य से दूर हट रहे हैं।

कुछ समय पहले मुझे एक नवयुवक ने एक पत्र लिखा था। उससे यह स्पष्ट था कि उसे अपने विचार अपने गुरुजनों से प्रकट करने में सङ्कोच होता था, क्योंकि उसे डर था कि वे उसका उपहास करेंगे। किन्तु उसे अपने विचारों की सत्यता पर जरा भी सन्देह नहीं था। उसमें विश्वास की यह दृढ़ता थी कि अभी भले ही वृद्धजन उसका तिरस्कार करें; पर भविष्य में वही वृद्धजन अपनी भूल समझ लेंगे। यही तरुणावस्था का विश्वास है। वृद्धावस्था में संशय विद्यमान रहता है। यह सच है कि वृद्धजन सर्वत्र संशयालु होते हैं। वे पग-पग में विपत्ति की आशङ्का करते हैं। वे क्षण-क्षण में अनिष्ट की चिन्ता से विह्वल होते हैं। उन्हें कभी यह विश्वास नहीं होता कि उनके बच्चे उनका आश्रय न रहने पर कोई कार्य ठीक तरह से कर सकते हैं। जब तरुण पुत्र अपने वृद्ध पिता के उपदेशों और आदेशों का तिरस्कार करता है, तब कौन पिता अपने बच्चों की उन करतूतों से उद्विग्न नहीं होता? उनकी अदूरदर्शिता देखकर कौन नहीं घबराता? उनकी अनुभव-हीनता की भूलें देखकर कौन उनके भविष्य के सम्बन्ध में शङ्का नहीं करता? पर यह समय भी चला जाता है। वृद्धजन अपनी सारी शङ्काओं को लेकर परलोक को चले जाते हैं और तब वही तरुण प्रौढ़ होकर अपनी तरुणावस्था की भूलों के लिए पश्चात्ताप करते हैं और अपने बच्चों की

फिर वही उपदेश देते हैं, जिनकी अवज्ञा वे स्वयं अपनी तरुणा-वस्था में कर चुके हैं। यही तो जीवन का क्रम है। साहित्य के क्षेत्र में अब मैं खुद कुछ नहीं कर सकता, पर वयोवृद्ध होने के कारण मुझको अब उपदेश देने का अधिकार आप से आप प्राप्त हो गया है। इसलिए कोई माने अथवा न माने, मैं तो तुम सब लोगों की तरुणावस्था की भूलें दिखलाऊँगा।

तीसरा पत्र

कुछ समय पहले मैंने एक लेख पढ़ा था। उसमें एक विद्वान् ने भविष्य-संसार की बड़ी सुखद कल्पना की थी। उनके कथन का तात्पर्य यह था कि वर्तमान युग के वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण मनुष्य-जीवन में जो परिवर्त्तन हो रहा है, उससे यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि भविष्य में संसार का एक दूसरा ही रूप हो जायगा। सौ वर्ष बाद न तो संकीर्ण जातीयता रह जायगी और न राष्ट्रीयता। कहीं परतन्त्रता नहीं रह जायगी। कोई दरिद्र नहीं रहेगा। कोई पक्षपात नहीं रहेगा। ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं रहेगा। धार्मिक विद्वेष का लोप हो जावेगा और प्रत्येक मनुष्य सामाजिक जीवन के सभी सुखों का उपभोग कर सकेगा। सौ वर्ष पहले जो तत्त्ववेत्ता हो गये हैं, उन्होंने भी भविष्य के लिए ऐसी ही सुन्दर कल्पना की थी। यूरोप के एक तत्त्ववेत्ता ने लिखा था कि अब मेरे सिद्धान्त के कारण संसार में भ्रातृ-भाव का प्रचार हो जायगा। भगवान् बुद्धदेव ने भी संसार को जन्म-जरा और मृत्यु से मुक्ति पाने की सच्ची राह बतलाई थी। संसार का बाह्य रूप चाहे जैसे परिवर्तित हो गया हो; पर अन्तःरूप तो वही है। वही पाप, वही दुःख और वही दारिद्रय है।

कहा जाता है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। ज्यों-ज्यों मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं, त्यों-त्यों मनुष्य उनकी पूर्त्ति के लिए तरह-तरह के नये-नये उपाय सोचता है। तभी नये-नये आविष्कार होते हैं। वर्त्तमान युग वैज्ञानिक युग कहा जाता है। बात यह है कि वैज्ञानिक युग में जितने आविष्कार हुए, उतने कभी नहीं हुए। प्राचीन काल और मध्य-काल में मनुष्य-समाज की दृष्टि भौतिक उन्नति की ओर उतनी नहीं थी, जितनी पारलौकिक उन्नति की ओर। इसी लिए उन्होंने पारलौकिक विषयों की ओर ध्यान दिया और धर्म-शास्त्रों की सृष्टि की। आधुनिक युग में भौतिक समृद्धि की इच्छा के कारण भौतिक विज्ञानों की उन्नति हुई। प्राचीन काल में मनुष्यों का जीवन बड़ा ही सरल था। उसमें किसी भी तरह की जटिलता नहीं थी। अपने जीवन-निर्वाह के लिए उन्हें जिन सामग्रियों की आवश्यकता थी, उन सबका वे प्रकृति से ही प्राप्त कर लेते थे। भोजन और वस्त्र को छोड़कर वे अन्य वस्तुओं की आवश्यकता का कम अनुभव करते थे। इन्हीं दो वस्तुओं के प्राप्त करने में उन्हें जिन-जिन साधनों की आवश्यकता पड़ी, उन्हीं के आविष्कार पहले-पहल किये गये। आत्म-रक्षा के लिए उन्होंने कुछ आविष्कार किये। प्रकृति की सभी शक्तियाँ उन्हें रहस्यमयी प्रतीत होती थीं, और जब लोग उन शक्तियों से पराभूत हो जाते थे, तब उन पर आतङ्क छा जाता था। यही कारण है कि उन शक्तियों में उन्होंने दैवी शक्तियों का अनुभव किया और उन्हें अपने अनुकूल बनाने के लिए उन्होंने उन प्राकृतिक शक्तियों की पूजा आरम्भ की। जल, अग्नि, समुद्र, पहाड़, वर्षा आदि सभी में उन्होंने किसी न किसी देव की कल्पना की और उस देव की आराधना में व्यस्त हो गये। उनमें धर्म की भावना जाग्रत हुई। क्रमशः यह धार्मिक भावना इतनी प्रबल हो गई

कि लोग धर्म का यथार्थ रहस्य जानने के लिए अतीव उत्सुक हो गये। यही कारण है कि मध्य युग में धर्म की ही प्रधानता रही है। अध्यात्म-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र की चिन्ता में सभी विद्वान् लगे रहे। उस युग में जो कुछ भी उन्नति हुई, वह धर्म के ही नाम पर हुई। धर्म के प्रचार के लिए प्रचारकों ने देश-विदेश की यात्रा की, बड़े-बड़े कष्ट सहे और उसके लिए उन्होंने अपने प्राण तक न्यौछावर कर दिये। धर्म के ही कारण मनुष्य-समाज में जो एकता आ गई, उससे उनकी भौतिक शक्ति भी इतनी बढ़ गई कि विशाल साम्राज्य भी स्थापित हो गये।

आधुनिक युग में मनुष्य ने अपनी ही शक्ति पर विचार करना आरम्भ किया। प्रकृति की जो शक्तियाँ पहले उसे रहस्यमयी मालूम होती थीं, उनका यथार्थ रूप जानने के लिए वह उत्सुक हुआ। तब उसकी परीक्षा आरम्भ हुई। परीक्षा के कारण उसके चित्त में संशय होने लगा। संशय के साथ धर्म पर उसकी श्रद्धा घट गई। और तब उसने नई-नई शक्तियों का अनुसंधान करना आरम्भ कर दिया। आज जिस बात की सत्यता को एक बालक भी स्वीकार कर लेता है, उसी को प्रमाणित करने के लिए आधुनिक युग के प्रारम्भ में वैज्ञानिकों को कष्ट सहना पड़ा।

धार्मिक विश्वास में एक अन्ध-भक्ति होती है। सर्वसाधारण उसी अन्ध-भक्ति के कारण ही किसी मत-विशेष के अनुयायी होते हैं। ये धार्मिक विश्वास किसी तर्क-शास्त्र का सामना नहीं कर सकते। तर्क की कसौटी पर कसे जाने पर उनकी असारता प्रकट हो जाती है। एक बार जो परीक्षा आरम्भ हुई, वह अभी तक हो रही है। उससे ज्ञान की वृद्धि होती गई है। ज्ञान के विकास के साथ-साथ मनुष्य के जीवन का भी विकास होता गया है। मानवीय सभ्यता में जटिलता आ गई है। पाश्चात्य

जातियों ने नये नये देश खोज निकाले और उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। उन्होंने अपने व्यापार को बढ़ाया। इससे उनकी आवश्यकता भी ख़ूब बढ़ गई। जीवन में क्षिप्रता आ गई। लोग यही सोचने लगे कि कम से कम समय मे अधिक से अधिक काम किस तरह किया जाय। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए वैज्ञानिक आविष्कार हुए और अभी तक हो रहे हैं। रेलगाड़ी, स्टीमर, मोटरगाड़ी और हवाई जहाजों की रचना हुई। कम-से-कम समय मे अधिक से अधिक काम करने में मनुष्य ने प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को काम मे लाना आरम्भ किया। भाफ की शक्ति जान लेने के बाद कितने ही यन्त्र ऐसे बने, जो भाफ की शक्ति द्वारा चलाये जाते थे। बिजली की शक्ति का ज्ञान होने पर उसी शक्ति का उपयोग सभी कामो में किया जाने लगा। अब तो जीवन का ऐसा कोई काम नहीं है, जिसमें बिजली की शक्ति का प्रयोग नहीं होता। तार, टेलीफोन, बेतार के तार आदि अनेक आविष्कार हमारे दैनिक जीवन में व्यवहृत हो रहे हैं।

भविष्य अन्धकार में है, क्योंकि उसके सम्बन्ध में कोई कुछ नहीं कह सकता कि कब क्या हो जायगा। विज्ञान की ऐसी आश्चर्यजनक उन्नति देखकर ऐसा जान पड़ता है कि कभी मनुष्य उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच जायगा। पर कुछ लोग ऐसे हैं, जो विज्ञान की इस उन्नति को संशय की दृष्टि से देखते हैं। उनका कथन है कि विज्ञान ने मनुष्य की संहारकारिणी शक्ति को बढ़ा दिया है। धार्मिक श्रद्धा के अभाव में और पार्थिव समृद्धि की वृद्धि के प्रयास में लोगों में परस्पर शत्रुता खूब बढ़ रही है। इसका परिणाम यह होगा कि लोग स्वयं लड़-भिड़कर नष्ट हो जायँगे। कौन जाने, विज्ञान हमें उन्नति की ओर ले जा रहा है या अवनति की ओर।

कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि वर्त्तमान वैज्ञानिक युग में जब हम लोगों की दृष्टि वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण विज्ञान की उन्नति की ओर ही आकृष्ट हो चुकी है, साहित्य की महत्ता का वर्णन करना उपहासजनक होगा। परन्तु जो चिरन्तन सत्य का वर्णन करता है, जिसमें चिरन्तन सौन्दर्य की झलक है, जिसमें काल और देश के अतीत जीवन की यथार्थ महिमा व्यक्त है, जिसका एकमात्र ध्येय मनुष्य की सर्वकालीन और सर्वांगीण उन्नति है; उसकी ओर तुम्हारा ध्यान आकृष्ट करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

जिस राथ्सचाइल्ड ने अपना सारा जीवन धन के संग्रह में व्यतीत किया है, वह उस क्राइस्ट के जीवन की महत्ता को कैसे समझ सकता है, जिसने आजीवन दरिद्रता स्वीकार की। जिस अलेकजेंडर ने संसार को वशीभूत करने के लिए आजीवन एक के बाद एक, कितने ही देशों को, साम्राज्य-लिप्सा के कारण पददलित किया, वह उन बुद्धदेव के जीवन की महत्ता को कैसे समझ सकता है, जिन्होंने एक साम्राज्य को पैरों से ठुकराकर वन का आश्रय लिया। दीवाने-आम और दीवाने-ख़ास क निर्माता, सारे भारतवर्ष को अपनी अधीनता में लानेवाला महान् अकबर उस तुलसीदास की क्षुद्र कुटी का महत्त्व कैसे समझ सकता है, जिसकी दिव्य वाणी आज भी भारतवर्ष के घर-घर में गूँज रही है।

साम्राज्य नष्ट हो गये और नष्ट हो जायँगे। धन की विशाल राशि क्षण-भर में विलीन हो जायगी। ऐश्वर्य की विशाल अट्टालिका पल-भर में धराशायी हो जायगी। परन्तु साहित्य के उपवन में चिरनवीन कुसुम खिलते ही रहेंगे। उसकी छवि नष्ट नहीं होने की, उसका सौरभ क्षीन नहीं होने का। कालाइल ने एक बार कहा था कि मैं ब्रिटिश साम्राज्य छोड़ दूँगा; पर शेक्सपियर की रचना को नहीं छोड़ सकता। यह है साहित्य की

महत्ता। आज यूनानी साम्राज्य कहाँ है? पर होमर की वाणी आज भी विद्यमान है। सोक्रेटीज़ के उपदेश आज भी सुने जा सकते हैं। प्लेटो और अरस्तू के ग्रन्थ आज भी विद्यमान हैं।

विज्ञान इस जगत् को लेकर ही व्यस्त है। उसका सारा ध्येय ऐहिक जगत् का ही विश्लेषण है। वह उसी शक्ति के अनुसन्धान में लगा हुआ है, जिसके कारण मनुष्य की मानवीय शक्ति की वृद्धि हो। साहित्य का विषय है अतिमानवीय। जो चिरन्तन सुख है, जो चिरन्तन सौन्दर्य है, जो चिरन्तन आनन्द है, जो चिरन्तन शान्ति है, वह एकमात्र साहित्य का ध्येय है। वैज्ञानिकों द्वारा हमें जीवन में कितनी ही सुविधाएँ प्राप्त हुई हैं। मनुष्य की वह क्षमता भी बढ़ गई है, जिसके कारण वह दूसरों का संहार सरलतापूर्वक कर सकता है। पर विज्ञान द्वारा क्या कभी उस प्रेम का प्रचार हुआ है, जिसके कारण मनुष्य मनुष्य-मात्र को अपना बन्धु समझे? प्रेम, दया, सहानुभूति, सेवा—यही भाव तो स्पृहणीय हैं। इन भावों का उद्रेक या प्रचार कभी विज्ञान द्वारा सम्भव नहीं है। विज्ञान शक्ति देकर मनुष्य को व्याघ्र से भी अधिक भयङ्कर भले ही बना दे; परन्तु यह साहित्य की ही शक्ति है, जिसकी मधुर वाणी को सुनकर व्याघ्र भी अपना हिंसक स्वभाव भूल जाय।

यदि जीवन की यथार्थ महिमा देखनी है, तो साहित्य देखो। यदि चिरन्तन शक्ति को प्राप्त करना है, तो साहित्य का अध्ययन करो। यदि विशुद्ध और चिर-नवीन सौन्दर्य का दर्शन करना है, तो साहित्य का आश्रय लो। सरस्वती के सरोवर में साहित्य ही कमल के रूप में खिलकर चारों ओर अपना स्निग्ध सौरभ वितरण कर रहा है। सरोवर में यदि कोई भैंस की तरह अपने शारीरिक अभाव की पूर्ति के लिए निर्मल जल-राशि को गँदला करे, तो उसे अपने काम से सन्तोष भले ही हो जाय, पर वह कमल के सौरभ का

यथार्थ अनुभव नहीं कर सकता। ऐसे नर-सौरिभ को हम क्या कहेंगे? पर ये ही आज वैज्ञानिक के नाम से प्रसिद्ध हैं।

साहित्य-रसिक तो भौंरे की तरह साहित्य के कमल-वन का सेवन करते है। वे लोग साहित्य का यथार्थ रसास्वादन करते हैं। पर इन दोनो के अतिरिक्त भी साहित्य के तट पर बक की तरह जो लोग केवल मत्स्य की इच्छा से बैठे है, उन्हें क्या कहना चाहिए, इसका निर्णय-भार मैं तुम पर ही छोड़ देना चाहता हूँ।

चौथा पत्र

पटने में गङ्गाजी का कितना सुन्दर दृश्य है। बनारस और इलाहाबाद में गङ्गाजी इतनी चौड़ी नहीं हैं। यहाँ तो उनका ख़ूब विस्तार है। प्रातःकाल उठकर जब मैं गङ्गा-तट पर पहुँचा, तब सूर्योदय नहीं हुआ था; फिर भी यथेष्ट प्रकाश था। कैसी शान्ति थी, कैसी निःस्तब्धता थी! यह दृश्य देखकर आपसे आप मन में उल्लास भर जाता है। हिन्दू-मात्र का विश्वास है कि गङ्गा-जी के दर्शन से ही सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। उनके जल से केवल शरीर ही शुद्ध नहीं होता, मन भी पवित्र हो जाता है। मानसिक विशुद्धि हो जाने से पापों की कालिमा नहीं रह सकती, वासना का उत्ताप नहीं रह सकता। मुझे भी ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी सारी भव-बाधा नष्ट हो गई। पटने में आकर मैं सचमुच अपनी सारी चिन्ताओं को भूल गया हूँ। जो होना है, वह होगा ही। मैंने तो यही सोचा कि अब कुछ दिन गङ्गाजी के तट पर रहकर उन्मुक्ति के आनन्द का भी तो अनुभव कर लूँ, इसी लिए यहाँ मैं ख़ूब आराम से समय व्यतीत कर रहा हूँ। गङ्गा-तट, गोलघर और मैदान इन तीन स्थानों को छोड़कर मैं और कहीं नहीं जाता।

एक बार वर्माजी के साथ मैं 'मुक्त'जी के घर गया। वहाँ मैंने जैनेन्द्रजी को देखा। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में जैनेन्द्रजी ने अपनी अपूर्व शैली और उससे भी अधिक अपनी अपूर्व कथा-वस्तु से एक नवीन ही आदर्श ला दिया है। उनकी कृतियों में प्रेमचन्द जी के-से उन सरल भावों का विन्यास नहीं है, जिनके लिए सोचने और समझने की आवश्यकता हो। उनकी रचनाओं में सुदर्शनजी की वह विशेषता नहीं है, जिसके कारण हम उनके पात्रों की ओर आप से आप आकृष्ट हो जाते हैं। उनमें प्रसादजी की अलौकिकता और उग्रजी की यथार्थता भी नहीं है। उनके पात्रों से न तो घटनाओं का कोई मेल रहता है और न उनके भावों से परिस्थिति का ही कोई सम्बन्ध रहता है। उनकी कहानियों में न जाने कब कोई भी पात्र किसी भी परिस्थिति में कोई भी काम कर बैठे। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि वे पाठकों को अपनी कथाशैली की विलक्षणता से मुग्ध कर लेते हैं। इसी सम्बन्ध में मैंने प्रेमीजी से बातचीत की थी। प्रेमीजी ने मेरे सम्बन्ध में शायद जैनेन्द्रजी को कुछ लिखा था। इसी से जैनेन्द्रजी ने मुझसे अपनी कहानियों के सम्बन्ध में पूछा। पर पहले उन्होंने अपना विचार व्यक्त कर दिया। उसे सुनकर मैं चुप रह गया। सच तो यह है कि सभी लेखक अपने लिए एक मार्ग बना लेते हैं। जैनेन्द्रजी ने भी अपने लिए एक मार्ग बना लिया है। उसमें विवाद के लिए स्थान नहीं है। मेरी तो यह धारणा है कि अवस्था की वृद्धि के साथ हम अपनी रचना की यथार्थता को समझने लगते हैं। फिर सत्य का सच्चा स्वरूप जान लेने का दावा कौन कर सकता है? कथा और कविता दोनों मेरे लिए तो आनन्द की सृष्टि हैं। यदि मुझे उनसे आनन्द की उपलब्धि नहीं हुई, तो वे मेरे लिए व्यर्थ हैं। इसी से कला का सच्चा समालोचक तो काल है।

फिर भगवती बाबू और जैनेन्द्रजी से जीवन-निर्वाह के सम्बन्ध में विवाद हुआ। भगवती बाबू ने कहा कि हम लोगो को दाल-रोटी की ही चिन्ता रहती है। जैनेन्द्र जी ने कहा—'यदि दाल-रोटी की ही चिन्ता होती, तो कोई बात नहीं थी। पर इस दाल-रोटी के साथ हमारी सैकड़ों अन्य आवश्यकताएँ हैं, जिनके कारण हम लोग चिन्तित रहते हैं। सच पूछो, तो दाल-रोटी की कुछ चिन्ता ही नहीं है।' इसी बात पर दोनो मे बहुत देर तक विवाद हुआ। इसके बाद कविता-पाठ हुआ। मैंने एक निरपेक्ष व्यक्ति की तरह विवाद भी सुना और कविताएँ भी सुनीं। हिन्दी में अब नवयुग की भावना प्रकट होने लगी है। कुछ समय पहले लोकशिक्षा और देशभक्ति के भावो से प्रेरित होकर जो कविताएँ लिखी जाती थीं, उनमें न भाव की विलक्षणता थी और न कल्पना का विलास। पर अब कविताओं का ढङ्ग बदल गया है। कल्पना और भावुकता के साथ उनमें विश्वास की दृढ़ता भी प्रकट होने लगी है। अभी उनमें जो एक आडम्बर और कृत्रिमता की वृद्धि हो रही है, वह मेरे लिए विरक्तिजनक है। इसलिए हिन्दी की आधुनिक कविताओं को न मै ध्यानपूर्वक पढ़ता हूँ और न सुनता हूँ।

कविता-पाठ समाप्त हो जाने के बाद जो साधारण बातें हुईं उनमें मेरा मन अवश्य लगा। ऐसी ही छोटी बातो से मैं किसी को जान पाता हूँ। मेरे लिए वहाँ सभी अपरिचित-से थे। उनमें जैनेन्द्रजी, गुप्तजी और वर्मा जी आधुनिक हिन्दी-साहित्य के देदीप्यमान नक्षत्र माने जाते हैं। उनकी रचनाओ में कितना सार है, यह तो भविष्य-युग ही निर्णय करेगा; पर उनके व्यक्तित्व की विशेषताओं से मै अवश्य आकृष्ट हुआ। जैनेन्द्रजी को देखकर मुझे ऐसा जान पड़ा है कि उनमें इतनी अधिक सरलता, स्पष्टता और विश्वास की दृढ़ता है कि वे मनुष्यों के संसार को कभी

नहीं समझ सकेंगे। साहित्य के क्षेत्र में वे अक्षय कीर्त्ति पा लें; पर संसार के कर्मक्षेत्र में उन्हें कोई भी पराभूत कर देगा। मुकर्जी ने यह विशेषता देखी कि उन्होंने भाव और कर्म दोनों क्षेत्रों को बिल्कुल पृथक् कर रखा है, जैसे एक शरीर में दो व्यक्ति निवास कर रहे हों। उनमें भाव-प्रवणता है और बुद्धि की तीक्ष्णता भी है। वर्माजी में मैंने बुद्धि की ही प्रधानता देखी। उनमें भावुकता नहीं है। वे एकमात्र अपनी बुद्धि से संसार को देखते हैं। संसार की बुराई उनसे छिप नहीं सकती; पर उनमें सहानुभूति की वह व्यापकता नहीं है, जिससे वे किसी के अन्तस्तल के निगूढ़ भावों को पहचान सकें। फिर चाय पीकर मैं घर लौटा।

इसी तरह बिल्कुल आलस्यमय जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। आश्चर्य की बात यह है कि आलस्य के जीवन में न तो अवसाद है, न शिथिलता। मैं यहाँ जो एक शान्ति और सन्तोष का अनुभव कर रहा हूँ, उससे ऐसा जान पड़ता है कि हम लोग चिन्ता कर चिन्ता की सृष्टि करते हैं। एक बार चिन्ता के बन्धन से छूट जाने पर यह आप से आप प्रकट हो जाता है कि जीवन में चिन्ता के लिए कोई स्थान नहीं है। बाल्यावस्था से ही मैं अकेला घूमता आया हूँ। मेरा कुछ ऐसा स्वभाव-सा हो गया है कि अकेले बैठकर मैं अपने ही जीवन की बातें सोचा करता हूँ। अपनी इस चिन्ता में मैं ऐसा लीन हो जाता हूँ कि मुझे फिर किसी बात की सुधि नहीं रहती। सिनेमा के चित्र देखने से जो आनन्द होता है, वही आनन्द मुझे अपने मन के इन अतीत चित्रों को कल्पना द्वारा देखने से होता है। कल मैं बड़ी देर तक मैदान में एक बेंच पर बैठा रहा। एक-एक करके कितनी ही बातें मेरे मन में आने लगीं। भविष्य में क्या होगा, इसे जानता कौन है ? हम लोग वर्त्तमान में ही व्यस्त रहते हैं और अतीत की बातें सोचते हैं। अब जब मैं चला जाऊँगा, तब यही सब बातें, जो आज मेरे लिए प्रत्यक्ष हैं,

एक दिन स्मृति की बातें हो जायँगी। उस दिन इन्हीं को मैं अपने मन में वैसे ही देखूँगा, जैसे मैं आज अपनी कितनी ही अतीत बातों को मन में देख रहा हूँ।

संसार में एक ओर कर्मचक्र चल रहा है और दूसरी ओर भावचक्र घूम रहा है। कर्मचक्र में पड़कर हम भावचक्र को भले ही भूल जायँ अथवा भावचक्र में पड़कर हम कर्मचक्र की भले ही उपेक्षा करें; पर दोनों के अस्तित्व में पल-भर भी किसी को सन्देह नहीं हो सकता। कर्मचक्र बाह्य जगत् में है और भावचक्र अन्तर्जगत् में। दोनो की गति कभी अवरुद्ध नहीं होती। अपने जीवन-निर्वाह के लिए संसार में किसी न किसी कर्मक्षेत्र के व्यवसाय मे निरत होना पड़ता है। समाज में रहकर अन्य लोगों से कई प्रकार के व्यवहार करने पड़ते हैं। अपनी स्वार्थ-सिद्धि, अपनी लाभ-हानि, अपनी उन्नति-अवनति का विचार करके हम अपने भावों को छिपाकर कितने ही काम करते हैं। प्रेम की वेदना, अपमान की ग्लानि, क्रोध का उत्ताप, प्रतिहिंसा की ज्वाला—सभी को हृदय में रखकर हम अपने कार्यों में व्यस्त हो जाते हैं, और तब ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य-जीवन बाह्य जगत् के ही लिए है। संसार के कर्मक्षेत्र में जो हमारे कार्य निश्चित हैं, उन्हीं को पूर्ण करने में जीवन की सफलता है।

संसार में धन और वैभव का महत्त्व है। उसके उपार्जन और सञ्चय के लिए जो एक सुबुद्धि चाहिए, उसमें त्याग और उपकार, दया और क्षमा, प्रेम और ममता को संयत रखना पड़ता है। धन को तुच्छ समझकर जो लोग अपने भावों के कारण संसार के कर्मक्षेत्र में असफल हो जाते हैं, उनकी दुर्दशा देखकर यही निश्चय करना पड़ता है कि जो अपने भावों को दलित कर कर्मक्षेत्र में दृढ़ता से बद्धपरिकर होकर लगा रहता है, उसी में यथार्थ पौरुष है। जब भाव उद्दाम होते हैं, तब संसार के कार्य-

क्षेत्र में जो-जो स्पृहणीय है, उन सभी को छोड़कर अपने भावों के ही अनुसरण में हम लीन हो जाते हैं। तब यश और प्रतिष्ठा, सम्पत्ति और ऐश्वर्य, नीति और कर्त्तव्य—सभी से विरक्ति हो जाती है। बाह्य जगत् में कुछ बात रहती है और अन्तर्जगत् में कुछ और ही बात रहती है। संसार में दु:ख है, दैन्य है, पराधीनता है, युद्ध है, भीषणता है। हृदय में प्रेम है, दया है, वासना है, क्रोध है, अहङ्कार है। हम लोग इन दोनों को ही लेकर जीवन-यात्रा करते हैं। हमारे लिए ये दोनों ही यथार्थ हैं। हमारे कितने ही भाव हृदय में उठकर वहीं विलीन हो जाते हैं। वे कार्य-रूप में परिणत नहीं होते, पर अन्तर्जगत् में वे विप्लव मचा ही देते हैं। हमारी कितनी ही वासनाएँ, चिन्ताएँ और वेदनाएँ मन में छिपी रह जाती हैं। उन पर किसी अन्य की दृष्टि नहीं जाती; पर हृदय में उनसे एक आँधी आ ही जाती है। उनके आगे बाह्य जगत् के सभी व्यापार तुच्छ रहते हैं। यह सच है कि संसार में हम जो काम करते हैं, उन्हीं के द्वारा हमारे मनुष्यत्व की परीक्षा होती है,। पर हमारे कितने ही काम हमारे भावों के प्रतिकूल होने के कारण हमारे लिए मिथ्या ही होते है। इसी से कथाओं में भाव जगत् को लेकर जब कार्यों का विपर्यय प्रदर्शित किया जाता है, तब हम शराब पीकर नाली में पड़े हुए कर्त्तव्य-ज्ञान-शून्य किसी देवदास के प्रति भी सहानुभूति प्रकट करते हैं। हृदय के सच्चे भावों की अभिव्यक्ति के लिए सत्साहस चाहिए। हृदय में कालुष्य भी तो रहता है। कल्पित पात्रों में भावों की विशुद्धि प्रदर्शित कर देने से ही उनके पापों की यथार्थ वीभत्सता चली जाती है। संसार में अपने भावों के अनुकूल काम करने के लिए भी हमें मिथ्या भावों को प्रदर्शित करना पड़ता है। जहाँ स्नेह नहीं, जहाँ भक्ति नहीं, जहाँ श्रद्धा नहीं, वहाँ इन सबका प्रदर्शन करना पड़ता है। पर हम तो अपने भावों की वीभत्सता को

समझते हैं, इसी लिए हमें अपने आपको भी धोखा देना पड़ता है। तभी तो हम कहते कुछ है, करते कुछ हैं और मन:में सोचते कुछ और ही हैं। हम लोग चाहे जिसे सत्य समझे; पर हम लोगों के लिए सभी कुछ सत्य है और सभी कुछ असत्य है—अर्थात् सभी कुछ असत्य होकर भी सत्य है और सत्य होकर भी असत्य है।

यह जीवन की कोई पहेली नहीं है, यह तो बिलकुल साधारण बात है। हरि यह समझता है कि गोपाल ने उसे ठगकर रुपये ले लिये। गोपाल यह समझता है कि मेरे लिए मेरी आवश्यकता ही एकमात्र सत्य है। जिसे हरि छल या पाप कहता है, उसे मैं अपने जीवन की सार्थकता समझता हूँ। हरि अपने रुपयों को मेरे जीवन से अधिक महत्ता क्यों देता है? उन रुपयों के चले जाने से हरि को हानि नहीं है, क्योंकि उसके पास आवश्यकता से अधिक रुपये हैं। रुपयों के प्रति उसका मोह मिथ्या है। अपने जीवन के प्रति मेरा मोह सच्चा है। इसी प्रकार जिस युवती पर कृष्ण का कोई सामाजिक अधिकार नहीं है, उस पर उसका प्रेम देखकर कोई यह कहता है कि उसका वह कार्य सर्वथा घृणित है; पर स्वयं कृष्ण यह समझता है कि अन्य जनों के लिए समाज का यह बन्धन ही सच है। पर मेरे लिए हृदय का यह भाव ही सच्चा है। जिस समय मुझे यह विश्वास हो जायगा कि मेरा यह भाव मिथ्या है, उस समय सूरदास या तुलसीदास की तरह मैं भी अपनी प्रियतमा से विरक्त हो जाऊँगा। अतएव प्रत्येक के भाव-जगत् में सत्य और असत्य का निर्णय कुछ दूसरे ही ढङ्ग से होता रहता है। संसार के कर्म-जगत् का प्रभाव उस पर अवश्य पड़ता है; पर उसके कारण भावों का घात-प्रतिघात होता रहता है, क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, और इन्द्रधनुष के समान मनुष्य के जीवन में भावों और क्रियाओं के विलक्षण मिश्रण से शुचिता और

अशुचिता का इतना वर्ण-वैचित्र्य हो जाता है कि यह समझ में नहीं आता कि विशुद्ध भाव कहाँ है। जो वेदना, जो क्रोध, जो विद्वेष, जो अहङ्कार, जो प्रेम और जो सहानुभूति हम अपने जीवन में प्रदर्शित करते रहते हैं और तदनुकूल कार्य करते रहते हैं, उनके भीतर अन्य कितने ही कार्य छिपे रहते हैं। तुम सत्य किसे कहोगे—प्रेम को या वासना को; त्याग को या अहङ्कार को; लोभ को या सेवा को; भय को या क्रोध को? इसी लिए आज जो मै यहाँ लिख रहा हूँ, उन सब की सत्यता में मुझे सन्देह न रहने पर भी मैं यह नहीं कहता कि वही सत्य है।

बन्दर की शिक्षा

जङ्गलों में मनुष्यों का राज्य स्थापित न हो सका। राजा की सेना अटवी-राज्य के वन्य पशुओं को पराभूत नहीं कर सकी। राजा चिन्तित हुआ, मन्त्री उद्विग्न हुआ और सेनापति त्रस्त हुआ। तब मदारी ने प्रतिज्ञा की कि वह जङ्गलों में मनुष्य का प्रभुत्व स्थापित कर देगा। राजा ने प्रसन्न होकर उसको आज्ञा दी कि वह अपनी इच्छा के अनुसार जो करना चाहे करे, कोई उसमें बाधा नहीं देगा। सभी उसकी सहायता करेंगे।

मदारी वन से एक बन्दर पकड़ लाया और उसने उसे बड़े प्यार से रखकर तरह-तरह की शिक्षाएँ दीं। मनुष्यों के संसार में बन्दर ने मनुष्यों की सभ्यता की नकल करना सीख लिया। मनुष्यो के मनोविनोद के लिए मदारी ने उसको मनुष्यो के ढङ्ग सिखाये थे। मदारी से प्रसन्न होकर अपना हर्ष प्रकट करने के लिए बन्दर बार-बार मुँह खोलकर दाँत दिखलाया करता था। इसी लिए मदारी ने उसका नाम रक्खा था 'गेपिंग'। मदारी के कहने से वह कभी मास्टर बनकर कुर्सी पर बैठता, कभी शासक बनकर शासन करता और कभी प्रबन्धक बनकर प्रबन्ध करता। लोग उसका अभिनय देखकर प्रसन्न होते थे। मनुष्यों की प्रशंसा से बन्दर को अपनी योग्यता का बड़ा गर्व हो गया। मनुष्य की भाषा का अनुकरण कर जब वह किचकिच करता तब उसे विश्वास होता था कि वह मनुष्य की भाषा में प्रवीण हो गया है। जब मदारी उसे कोट-पतलून पहनाकर उसके सिर पर टोप लगा देता, तब वह गर्व से फूल जाता। उसे अपने मनुष्यत्व पर जरा भी

सन्देह न होता था। वह यह बिल्कुल भूल जाता था कि वह बन्दर है।

इसके बाद मदारी ने उसको जङ्गल में लाकर छोड़ दिया। मदारी के आश्रय से हीन होने पर बन्दर को यह सूझा नहीं कि वह क्या करे। वह एक झाड़ पर बैठकर कितनी ही बातें सोचने लगा। उसी समय वनराज उधर से निकल पड़े। वनराज को देखते ही बन्दर डर से काँपने लगा। वनराज उसी झाड़ के नीचे ठहर गये, और गम्भीर गर्जना की। बन्दर डर के कारण नीचे गिर पड़ा। वनराज ने उसे देखकर पूछा—तू कौन है? साहस कर बन्दर तुरन्त दो पैरों से खड़ा होकर उन्हें सलाम करने लगा। चकित होकर वनराज ने कहा—यह क्या कर रहा है?

बन्दर ने कहा—आप इस वन के राजा हैं। इसलिए मैं आपको प्रणाम कर रहा हूँ। मनुष्य इसी तरह दूसरों के प्रति अपना आदर-भाव प्रकट करते हैं।

वनराज का आश्चर्य और बढ़ गया। उन्होंने पूछा—मनुष्य कौन है?

बन्दर ने कहा—आप मनुष्य को नहीं जानते हैं! वह दो पैरों से चलनेवाला पशु है। वह बड़ा शक्तिशाली है। उसका राज्य इतना बड़ा है कि वहाँ सूर्य का अस्त ही नहीं होता। उन्हीं की नीति और रीति को अच्छी तरह जानकर मैं आपकी सेवा करने के लिए आया हूँ। वनराज ने पूछा—तू क्या काम करेगा?

बन्दर ने कहा—मैं वह काम करूँगा जो कोई नहीं कर सकता। मैं आपको सर्व-विजेता मनुष्य की शक्ति का रहस्य समझाऊँगा।

वनराज ने पूछा—इससे लाभ क्या है?

बन्दर ने कहा—लाभ! शिक्षा ही तो परम लाभ है। मैं यहाँ वनवासियों को मनुष्य की भाषा और सभ्यता सिखलाऊँगा। यहाँ अभी तक अज्ञान छाया हुआ है। मैं उसे दूर करूँगा। तब

मनुष्य की तरह आपकी भी शक्ति खूब बढ़ जावेगी और आपके राज्य में सुख, शान्ति और वैभव का प्रसार हो जावेगा।

वनराज पर बन्दर की बातों का बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने कहा—मैंने भी कभी-कभी मनुष्य के पराक्रम की बात सुनी है। मैं यह अवश्य नहीं जानता था कि उसे मनुष्य कहते हैं। अगर तुम उन्हीं की तरह हमारे अनुचरों को शिक्षित बना दोगे तो सच-मुच हमारा राज्य अजेय हो जावेगा।

उस दिन से वनराज की आज्ञा से सभी वन्य पशु बन्दर से शिक्षा प्राप्त करने लगे। स्वयं युवराज को आज्ञा हुई कि वह भी बन्दर से मनुष्य की विद्या सीख ले।

वन में शिक्षा-विभाग का अध्यक्ष बनकर बन्दर खूब उछल-कूद करने लगा। उसमें बड़ी स्फूर्ति थी। वह दिन भर किचकिच कर सकता था और दिन भर वह एक झाड़ से दूसरे झाड़ पर कूदकर भी थकता न था। उसकी यह स्फूर्ति देखकर वनराज भी दङ्ग हो गये। उन्होंने अपने मन्त्री रीछ को बुलाकर कहा—देखो, तुम्हारे सभी कर्मचारी अयोग्य हैं। कोई कुछ काम नहीं करता। सब दिन भर कहीं छिपे पड़े रहते हैं। इस बन्दर को देखो। वह कितना काम करता है। पर वह कभी थकता ही नहीं। वह सदैव वृक्षों पर कूदता रहता है। उसकी इस कार्य-तत्परता पर मैं बड़ा प्रसन्न हूँ। मैं उसकी पद वृद्धि करना चाहता हूँ।

रीछ कुछ कह न सका। वह बन्दर से चिढ़ता अवश्य था, पर वनराज का कृपापात्र होने के कारण बन्दर को किसी का भय न था। रीछ ने वनराज के कथन का विरोध नहीं किया। बन्दर वन के अन्य कई विभागों का निरीक्षक बन गया।

एक दिन बन्दर उछलते-कूदते एक भेड़िये के पास गया। उसने वहाँ जाकर भेड़िये को डपटकर कहा—देखो, तुम इस तरह किचकिच किया करो। यह मनुष्य की भाषा है। बिना इस

भाषा का ज्ञान प्राप्त किये तुम कोई काम नहीं कर सकते। इसके बाद उसने चीते को पुकारकर कहा—देखो, तुम इस तरह दो पैरों से चला करो। मनुष्य इसी तरह चलते हैं। जिसे मनुष्य की सभ्यता ही नहीं मालूम वह क्या गौरव प्राप्त कर सकता है? तुम यदि इसी तरह असभ्य बने रहोगे तो पद-च्युत कर दिये जाओगे। इसी तरह एक दिन उसने बाघ को भी ललकारकर कहा—तुम्हें इस तरह खड़ा नहीं होना चाहिए। तुम्हारी भाषा तो बिलकुल खराब है। तुम उद्दण्ड भी हो।

वन भर में एक आतङ्क छा गया। मनुष्य की सभ्यता और भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सभी पशु प्रयत्न करने लगे। पर दो पैर से चलना और किचकिच करना कोई साधारण काम नहीं था। सभी घबड़ा गये। युवराज भी गर्जन करना छोड़कर दिन भर किचकिच का अभ्यास करने लगे। बड़े यत्न से वे किच-किच तो नहीं, पर घर-घर करना सीख गये।

इधर वन का शासन-विभाग शिथिल हो गया। छोटे-छोटे पशु निर्भय होकर घूमने लगे। खरगोश उछलता-कूदता साफ़ निकल जाता था और भेड़िया ताकता रह जाता था। हरिणों को चौकड़ी भरते देखकर बाघ दाँत पीसकर रह जाता था। कोई कुछ नहीं कर सकता था। सिर्फ़ पक्षी बन्दर का उपहास करते थे। वहीं डाल पर फुदक-फुदककर बन्दर को चिढ़ाते थे। कभी-कभी क्रोध में आकर बन्दर किसी के घोंसले को तोड़कर ज़मीन पर पटक देता था। इससे अधिक वीरत्व प्रकट करने की उसमें शक्ति ही नहीं थी। उसे अपनी किचकिच भाषा का इतना गर्व था कि वह पक्षियों के कलरव को सुनकर चिढ़ जाता था और इसी लिए वह उन्हें जङ्गलों से भगा देना चाहता था।

धीरे-धीरे बन्दर का इतना प्रभुत्व बढ़ा कि जङ्गल के सभी जानवर निस्तेज से हो गये। एक दिन एक गजराज उस जङ्गल

में घुस गया। उस समय युवराज किचकिच का अभ्यास कर रहे थे। और चीते, भेड़िये, बाघ आदि अन्य पशु दो पैरो के बल पर चलना सीख रहे थे। केवल बन्दर झाड़ पर बैठा था। उसने गजराज को देखकर किचकिच शब्द किया। पर गजराज ने बड़ी उपेक्षा की दृष्टि से उसे देखकर उसके वृक्ष को तोड़ डाला। बन्दर प्राण लेकर भागा और सब चिड़ियाँ चहक-चहककर हँसने लगीं।

कुछ देर तक गजराज वहीं यथेष्ट उपद्रव करता रहा। सभी पशु उससे त्रस्त हो गये। तब दो मनुष्य आये। उनके आते ही वह गजराज अपना सारा दर्प भूल गया। एक की ललकार सुनते ही वह चुपचाप बैठ गया और दोनो मनुष्य उस पर बैठ गये। फिर उनकी आज्ञा से वह चुपचाप वन के बाहर हो गया।

उसके बाहर होते ही बन्दर ने चिल्लाकर कहा—देखा, मनुष्य की कितनी शक्ति है, उनकी भाषा का कितना प्रभाव है।

सब पशु सिर झुकाये बैठे रहे। पर स्वयं वनराज को जब यह बात मालूम हुई तब वे अपनी भूल समझ गये। उन्होंने समझ लिया कि मनुष्य की सभ्यता और शिक्षा का अनुसरण कर वन्य पशु अपना स्वाभिमान और आत्मगौरव खो बैठे। अपनी रीति, नीति, धर्म, भाषा और स्वभाव सब कुछ खोकर अब वे निश्चेष्ट और निस्तेज हो गये। उन्होंने एक दीर्घ निःश्वास लिया और कहा—अब मै भी वह नहीं रहा। अब वन में मेरा आधिपत्य नहीं रहा। अब वन मे मनुष्य का अधिकार हो गया।

वन मे मनुष्य आने लगे। सभी वन्य पशु उन्हें देखकर भागने लगे। कभी-कभी बाघ और वनराज उनसे भिड़ पड़ते थे। पर उन्हें अपने प्राणो से हाथ धोना पड़ता था।

एक तीर्थ-यात्रा

बाल्यकाल से ही हम लोग हिमालय की कथा पढ़ते आये हैं, इसी लिए हम लोगों के हृदय में हिमालय ने एक विशेष स्थान बना लिया है। हम लोगों के लिए वह विशाल, जड़ शिलाखण्डों का समूह नहीं है, वह एक साधारण पहाड़ नहीं है, वह गिरिराज है। वह स्वयं जगद्धात्री गिरिजा हैं और स्वयं जगत्-पिता शङ्कर हैं। वह यक्षों का देश है, वह किन्नरों का स्थान है, वह तपस्वियों की तपोभूमि है, वह देवों की लीला-भूमि है। हम लोगों के लिए वह जितना पुनीत है उतना ही रहस्यमय है। इसी लिए अन्य स्थानों के यात्रा-वर्णन की अपेक्षा हिमालय का यात्रा-वर्णन मेरे लिए बड़ा कौतूहलमय और चित्ताकर्षक होता है। मैं स्वयं यात्री हूँ नहीं। आवश्यक काम आ जाने पर जब मुझे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना पड़ता है तब मेरी घबड़ाहट की सीमा नहीं रहती। कहा जाता है कि मोटर-गाड़ी और रेलगाड़ी के कारण अब यात्रा में कोई असुविधा नहीं है, पर मेरे समान यात्रियों के लिए पहले टिकट ही ले लेना कोई साधारण बात नहीं है। क्या मोटर-स्टेंड और क्या रेलवे-स्टेशन, लोगों की इतनी भीड़ रहती है कि बिना धक्का खाये टिकट दुष्प्राप्य है। टिकट पा लेने के बाद जब तक गाड़ी नहीं आ जाती तब तक मन में न जाने कितनी दुश्चिन्ताएँ उदित होती रहती हैं। जब गाड़ी आ जाती है तब बैठने के लिए जगह ढूँढ़ने में भी कम प्रयास नहीं करना पड़ता। किसी तरह स्थान पा लेने पर इतना सन्तोष अवश्य हो जाता है कि कष्ट सहकर भी हम लोग अपने गन्तव्य स्थान में पहुँच जावेंगे।

यदि यात्रा कुछ लम्बी हुई तब कुछ समय के बाद अपने आप मन एक क्लान्ति आ जाती है। अपरिचित लोगों के साथ बैठकर किसी प्रकार मन बहलाया भी नहीं जा सकता। गाड़ी के बाहर दृश्य कितना ही मनोरम क्यों न हो, वह इतना क्षणिक होता है कि उस पर दृष्टि नहीं ठहरती। पहाड़, नदी, जङ्गल, खेत, ग्राम आदि को पार कर मुख्य-मुख्य स्थानों पर ठहरती हुई गाड़ी आगे बढ़ती चली जाती है। कितने ही लोग उतरते हैं और कितने ही चढ़ते हैं। मन में यही भाव उदित होता है कि संसार कितना विशाल है और हम कितने क्षुद्र हैं। इस जन-समूह में हमारा स्थान कितना अगण्य है, तो भी हम लोग अपनी-अपनी क्षुद्र भावनाओं को लेकर अपने-अपने पथ से अपने-अपने गन्तव्य स्थान को चले जा रहे हैं। यही कारण है कि प्रायः कोई भी यात्रा मेरे लिए सुखद नहीं होती। पर घर के एक कोने में बैठकर जब मैं किसी यात्री की यात्रा-कथा पढ़ता हूँ तब अपनी कल्पना के बल से उस यात्री का सहचर बनकर एक से एक दुर्गम स्थान को चला जाता हूँ। उस समय मुझे कम आह्लाद नहीं होता। ध्रुवप्रदेश और मरुभूमि, भीषण अरण्य और पार्वत्य-प्रदेश, सभी स्थानों में मैं हो आया हूँ। एक से एक विलक्षण दृश्य मैं देख चुका हूँ। एक से एक सङ्कटमय स्थिति का अनुभव कर चुका हूँ। कभी विस्मय हुआ है कभी रोमाञ्च हुआ है, कभी आतङ्क हुआ है और कभी आनन्द हुआ है। हिमालय के माया-लोक में भी मैं एक ऐसे ही यात्री के साथ प्रविष्ट हुआ हूँ और आज अमरनाथजी की यात्रा का जो वर्णन यहाँ लिख रहा हूँ वह एक ऐसे ही यात्री की कथा है।

भारतवर्ष तीर्थों की भूमि है। प्रायः सभी तीर्थ प्रकृति के मनोरम लीलास्थल हैं। इसी से वे सभी पहले तपश्चर्या के योग्य स्थान थे। जहाँ वैभव का उन्माद है, व्यवसाय की क्षिप्र गति

है, शक्ति का दर्प है, विलास की उच्छृङ्खलता है वहाँ अशान्ति का चीत्कार होता है, दरिद्रता का आर्तनाद होता है, असन्तोष और विद्वेष की ज्वाला धधकती है। ऐसे स्थानों में मानवीय शक्ति और कला की पराकाष्ठा होने पर भी हम वहाँ केवल विस्मय और आतङ्क से अभिभूत हो जाते हैं। श्रद्धा और भक्ति से युक्त होकर अथवा प्रेम के पुलक से पूर्ण होकर हम नतमस्तक नहीं होते। ऐश्वर्य के उस जाल मे पड़कर हम केवल क्लान्ति का अनुभव करते हैं, शान्ति का नहीं। आनन्द की अकृत्रिम धारा तो उन तीर्थ-स्थानों में ही बहती है जहाँ हम अपनी सारी सम्पत्ति को करील के लता-कुञ्जों पर न्योछावर कर देना चाहते हैं। गङ्गा और सरयू, यमुना और गोदावरी, न जाने कब से चिरन्तन जीवन की चिरन्तन कथा सुनाती आ रही हैं। उनके तटों पर सम्पत्ति और शक्ति की कितनी विशाल अट्टालिकाएँ निर्मित हुई और नष्ट हो गई पर वे स्वयं अभी तक एक ही भाव लेकर, एक ही रस लेकर, स्वच्छन्दता से बहती जा रही हैं। यही इन तीर्थों की महत्ता है धर्म के चिरन्तन गौरव को बनाये रखने के लिए वे यत्र-तत्र अवस्थित हैं। अब तो रेलगाड़ी के कारण कितने ही तीर्थ-स्थान सुगम हो गये हैं। पर सुगमता के साथ उनका वह पुनीत गौरव भी कुछ लुप्त-सा हो गया है। तो भी कुछ स्थान अभी तक दुर्गम हैं और वहाँ अभी तक प्रकृति की भव्यता है। ऐसा ही एक तीर्थ-स्थान है अमरनाथ। वह काश्मीर की विस्तृत लीदर घाटी में स्थित है और समुद्रतल से १८००० फुट ऊँचा है। इसी घाटी के भीतर एक रम्य गिरि-गह्वर में हिम के द्वारा एक शिवलिङ्ग का निर्माण आप से आप होता है। वही देवाधिदेव अमरनाथ के नाम से विख्यात है और उसी के दर्शन के लिए यात्री वहाँ एकत्र होते हैं। शुक्लपक्ष में चन्द्रकला की वृद्धि के साथ शिव-लिङ्ग की भी क्रमशः वृद्धि होती जाती है और पूर्णिमा को सम्पूर्ण शिव-लिङ्ग

निर्मित हो जाता है। फिर कृष्ण-पक्ष में चन्द्रकला के क्षय के साथ शिव-लिङ्ग का क्रमशः ह्रास होता जाता है और अमावस्या की रात्रि मे वह शिव लिङ्ग स्वयं अन्तर्हित हो जाता है।

नगाधिराज हिमालय के अभ्रभेदी उत्तुङ्ग शिखर पर वह स्थान स्थित है। इसी से वह सदैव तुषारावृत रहता है। सभी ऋतुओं में वहाँ पहुँच जाना सम्भव नहीं। इसी लिए वसन्त-काल के आगमन में जब शीत का प्रकोप कुछ कम हो जाता है तब हिम के पिघल जाने से पथ कुछ परिष्कृत हो जाता है। तभी यात्रा सम्भव होती है और तभी कितने ही यति, संन्यासी तथा अन्य श्रद्धालु भक्त अमरनाथ का दर्शन करने के लिए वहाँ जाते है।

प्रात.काल यात्री लीदर घाटी पर चढ़ना आरम्भ करते हैं। पथ बड़ा विकट होता है। पहले चीड़ के विकट वन में प्रविष्ट होकर जाना पड़ता है। फिर लगातार ऊपर ही चढ़ना पड़ता है। यात्री ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ता जाता है त्यों-त्यों हिमालय की अपूर्व छटा प्रकट होती जाती है। चारो ओर हिम से आच्छन्न उत्तुङ्ग पर्वत-राशि की धवलता फैली रहती है। सचमुच ऐसा प्रतीत होता है कि यह देवाधिदेव त्र्यम्बक का आनन्दोद्गत, राशीभूत अट्टहास है। सर्वत्र एक ऐसी निःस्तब्धता रहती है कि मानो विश्व किसी की उपासना मे निमग्न है। थोड़ी-थोड़ी दूर पर जो झरने मिलते हैं उनकी कलकल-ध्वनि बड़ी श्रुति-मधुर होती है। जान पड़ता है कि भगवान् का स्तव-गान हो रहा है। लाल, पीले और हरे फूलो की राशि देखकर मन में यही भावना जाग्रत होती है कि स्वयं प्रकृति-देवी ने विश्वनाथ को पुष्पाञ्जलि समर्पित कर दी है और वह स्वयं उनके ध्यान में निश्चल हो गई है। न जाने किस स्मरणातीत-काल से प्रकृति की यह मूक उपासना हो रही है और न जाने कब तक होती रहेगी।

कई घण्टों तक पहाड़ों के कठिन चढ़ाव से क्लान्त होकर यात्रियों को जब एक मैदान मिलता है तब वे सब वहीं विश्राम करने के लिए रुक जाते हैं। चारों ओर निर्जन अरण्य रहता है, चारों ओर हिंस्र पशुओं का साम्राज्य रहता है। वहीं निर्भय होकर मनुष्यों का एक छोटा दल अपना विश्राम-स्थल बना लेता है। यह है प्रेम की एकता का फल। सभी का एक लक्ष्य होता है, सभी का एक उद्देश्य होता है इसी लिए बाह्य शत्रुओं से परित्राण पाने के लिए वे लोग दल-बद्ध हो जाते हैं। विशेष कोई सम्बन्ध न होने पर भी वे लोग एक महत् उद्देश्य को लेकर परस्पर आत्मीयता स्थापित कर लेते हैं। इसी से उस निर्जन स्थान में चन्द्रमा की उज्ज्वल ज्योति में चिन्ता-मुक्त होकर सब विश्राम करते हैं। सूर्योदय के साथ उनकी यात्रा फिर आरम्भ होती है। अब पथ और भी अधिक दुर्गम हो जाता है। ज्यों-ज्यों यात्रियों का दल पहाड़ के ऊपर चढ़ता है त्यों-त्यों शीत का भीषण प्रकोप होता जाता है। कई घण्टों के कठिन प्रयास के बाद शेषनाग नामक स्थान मिलता है। वहीं यात्री विश्राम करने का अवसर पाते हैं।

शेषनाग हिमालय के वक्षःस्थल पर स्थित मानो एक क्षीरसागर है। उसका जल क्षीर के ही सदृश उज्ज्वल है। वह मधुर, शीतल और स्वास्थ्यवर्धक भी है। यह भी एक पवित्र स्थान है। यात्री यहाँ पावन जल में अवगाहन कर वरुणदेव की अर्चना करते हैं। प्रातःकाल यात्रियों का दल फिर अमरनाथ के लिए प्रस्थान करता है। अमरनाथ के लिए यहीं अन्तिम यात्रा होती है। वह जैसी कष्टप्रद होती है वैसी ही भयप्रद भी रहती है। पद-पद पर प्राण सङ्कट में रहते हैं। बर्फ के ऊपर चलना पड़ता है। फिर भी इस घोर पथ को लाँघकर यात्री सूर्यास्त के समय उस गिरि-कन्दर में प्रविष्ट हो जाते हैं जहाँ अमरनाथ का दर्शन होता है। यात्रियों के

हर्ष की सीमा नहीं रहती। वे भगवान् शङ्कर की पूजा में निमग्न हो जाते हैं। दूसरे दिन कृतकृत्य होकर वे लोग लौटते हैं। उन्हें अब चिन्ता नहीं रहती, उन्हें अब भय नहीं रहता। उन्हें यह विश्वास हो जाता है कि भगवान् शङ्कर के दर्शन से उन्होंने अपने जीवन को सफल कर लिया और अब वे संसार के सन्ताप और बन्धन से मुक्त हो गये।

शौर्य की एक कथा

(१)

वह था राक्षसराज। उसके पास शक्ति थी, सम्पत्ति थी, प्रभुत्व था। उसे अपनी शक्ति का दर्प था, सम्पत्ति का मद था और था ऐश्वर्य का अहङ्कार। उसकी स्वेच्छाचारिता से सब त्रस्त हो गये थे। परन्तु उसका विरोध कोई नहीं कर सकता था। उसकी दृष्टि पड़ी एक राजकन्या पर। राजकन्या के सौन्दर्य पर वह मुग्ध हो गया। उसने उसका अपहरण कर लिया। राजकन्या हताश हो गई, पर एक राजकुमार ने उस राक्षसराज का वध करके राजकन्या का उद्धार किया।

यह है पौराणिक युग की कथा। पौराणिक युग में वीरों की ऐसी कितनी ही कथाएँ हैं। कुल-ललनाओं की रक्षा में कितने ही वीरों ने एक से एक अधिक वीरत्वपूर्ण कार्य किये हैं। अत्याचार और अन्याय के दमन में ही शौर्य की सच्ची परीक्षा है।

(२)

मुसलमानों के शासन-काल में एक बार एक राजकन्या किसी पवित्र पर्व पर गङ्गा-स्नान करने के लिए गई। उसी के पास एक नवाब ठहरा हुआ था। राजकन्या का आगमन सुनकर उसने तुरन्त कुछ सैनिक भेजे। सैनिकों ने राजकन्या को घेर लिया। राजकन्या के उद्धार का कोई उपाय न था। उसने भगवान् का स्मरण किया। उसी समय वहाँ एक राजपूत युवक पहुँच गया। उसने मुसलमान सैनिकों को धराशायी कर राजकन्या का उद्धार किया परन्तु वह स्वयं घोर रूप से आहत हो गया। उसकी मृत्यु सन्निकट देखकर राजकन्या विलाप करने लगी तब उस वीर ने

कहा—बहन, दुःख मत करो। यही तो मेरे लिए सबसे अधिक सुखद काल है। मुझे यही आशीर्वाद दो कि बार-बार मैं पृथ्वी पर जन्म लूँ और बार-बार तुम्हारे ही समान कुल-कन्याओं की मान-रक्षा में प्राण-विसर्जन करूँ।

युग परिवर्तित हो जाता है, समय बदल जाता है पर न तो अत्याचार का दमन होता है और न शौर्य का ह्रास होता है। आधुनिक युग में भी शौर्य की ऐसी कितनी ही कथाएँ प्रसिद्ध हैं और एक रात को कुसुम ने अपनी सखियों से शौर्य की एक ऐसी ही अपूर्व कथा कही।

(३)

असाढ़ का महीना था। आकाश में बादल घिर आये थे। रात हो गई थी। कमला अपनी तीन सखियों के साथ कमरे में बैठी इधर-उधर की बातें कर रही थी। इतने में उसकी एक सखी तारा उठी। खिड़की खोलकर उसने बाहर दृष्टिपात किया। बाहर घना अँधेरा था। उसने कहा—"कमला, कैसा विकट अन्धकार है। ऐसे अन्धकार में यदि मुझको बाहर जाने की जरूरत पड़ती तो मैं डर के मारे ही मर जाती।" उसकी बात सुनकर कमला उठ आई और उसके साथ कुसुम भी आ गई। तीनों खिड़की से बाहर झाँकने लगीं। इतने में वर्षा आरम्भ हो गई। पवन बड़े वेग से बहने लगा। कमला ने खिड़की को बन्द करना चाहा। तारा ने कहा—"जरा ठहरो। मुझे रात के इस विकट दृश्य में भी एक प्रकार का उल्लास होता है।" इतने में एक मोटर उधर से निकल गई। ऐसा जान पड़ता मानो अन्धकार के राज्य से कोई एक विलक्षण पशु सहसा चीत्कार करता हुआ निकल पड़ा हो। कुसुम चौंक उठी और क्षण भर उसी मोटर की ओर ताकती रही। कमला ने हँसकर कहा—"बहन, तुम दोनों ही विलक्षण हो। एक तो रात के विकट दृश्य देखकर प्रसन्न हो रही है और दूसरी मोटर

की ओर ऐसी स्थिर दृष्टि से देख रही है। मानों उसने कभी जीवन में मोटर ही न देखी हो। तुम दोनों की भावुकता के कारण पानी की बौछार मैं ही सह रही हूँ। अब तो खिड़की बन्द करने दो।" "लो, खिड़की बन्द कर लो।" कहकर दोनों खिड़की से हट आईं। कमला ने खिड़की बन्द कर दी। फिर वह भी उन्हीं के साथ बैठ गई। कुसुम ने पूछा—"बहन, आज कौन-सी तिथि है?" कमला ने कहा—"आज सप्तमी है।"

कुसुम कहने लगी—"ठीक आज पाँच वर्ष हो गये। ऐसी ही असाढ़ की रात थी। ऐसा ही विकट अँधेरा था। ऐसी ही वर्षा हो रही थी, और ऐसे ही मोटर में बैठकर विमला मेरे घर आई थी। आज भी जब मैं उस दिन की याद करती हूँ तब मेरे हृदय में एक आतङ्क-सा छा जाता है।" कमला ने पूछा—"बहन, यह तो तुम कोई कहानी-सी सुना रही हो। विमला कौन थी, और वह घटना क्या थी जिसका स्मरण कर तुम्हें अभी तक आतङ्क होता है?"

कुसुम कहने लगी—"कहानी नहीं सुना रही हूँ। सच्ची घटना ही बतला रही हूँ। ऐसी घटना तुमने कहीं सुनी भी न होगी।" कमला ने उत्सुकता से पूछा—"बतलाओ न, वह क्या बात थी?" कुसुम कहने लगी—अच्छा लो सुनो। तुम जानती हो कि मैं बसन्तपुर में अपने मामा के यहाँ बाल्यकाल में रहा करती थी। वहीं मेरे एक नाते के भाई भी रहते थे। उनका नाम था गोपाल। वे कलकत्ता और रायपुर में दोनों जगह काम करते थे। मोटर चलाने में वे प्रवीण हो गये थे। इसी लिए जिस सेठ के यहाँ वे नौकर थे, उनकी मोटर को भी वे चलाया करते थे। उन्हीं से मुझे उस दिन की घटना का पूरा रहस्य मालूम हुआ था। इसी लिए मैं तुम्हें आदि से अन्त तक की पूरी बातें बतलाती हूँ।"

"रायपुर में हरिदास नाम का एक ब्राह्मण लड़का था। वह कालेज में पढ़ रहा था। उसके घर की बिलकुल साधारण स्थिति थी। उसकी एक छः वर्ष की छोटी बहन थी। उसका नाम था विमला। एक दिन अचानक हैजे मे हरिदास के माता-पिता दोनों की मृत्यु हो गई। तब हरिदास पर ही घर का सारा बोझ आ गया। वह स्वयं बीस वर्ष का नवयुवक था। अपनी छः वर्ष की छोटी बहन का लालन-पालन करना असम्भव था। रायपुर से कुछ दूर नवा गाँव नाम का एक स्थान था। वहाँ उसकी एक विधवा बुआ रहती थी। हरिदास ने सोचा कि बहन को उसी के सरक्षण में छोड़कर मैं कहीं दूसरी जगह काम खोजूँ। वह अपनी बुआ के पास गया। उसकी बुआ थी तो गरीब पर वह बड़ी स्नेह-शीला थी। उसने बड़े प्रेम से विमला को रख लिया। हरिदास जीवन-निर्वाह के लिए कलकत्ता चला गया। मेरे भाई गोपाल से उसकी मैत्री थी। उन्हीं की सिफारिश से कलकत्ते के एक सेठ ने उनको अपने यहाँ नौकर रख लिया।

"हरिदास जैसा परिश्रमी था, वैसा ही अपने कार्य में निपुण भी था। कुछ ही दिनो में उसने अपने स्वामी को प्रसन्न कर लिया। वह प्रति मास अपनी बुआ के पास ४०) रुपया भेज देता था। चार-पाँच वर्ष के बाद हरिदास के स्वामी सेठ ने बर्मा मे एक कारखाना खोलना निश्चित किया। कारखाना खोल लेने के बाद उन्हे एक विश्वासपात्र व्यक्ति की आवश्यकता हुई, जो उसकी देख-रेख कर सके। लाखों रुपयों का व्यवसाय था। इसलिए वे ऐसे ही आदमी को भेजना चाहते थे, जिस पर उनका पूरा विश्वास हो और जो उस कार्य के योग्य भी हो। खूब सोच-विचार कर उन्होंने हरिदास को ही उस काम के लिए चुना।

हरिदास को उसके यहाँ काम करते सात वर्ष हो गये थे। वह पहले तो हिचकिचाया। घर छोड़कर इतनी दूर जाना उसे

पसन्द नहीं था। पर उसे एक बात की चिन्ता अवश्य थी। उसकी बहन जो तेरह-चौदह वर्ष की हो गई थी दो-एक वर्ष बाद उसका विवाह करना ही पड़ेगा। कुल-मर्यादा की रक्षा के लिए यह आवश्यक था कि उसका विवाह किसी अच्छे घर में हो। हरिदास स्वयं नहीं चाहता था कि वह अपनी मातृपितृ-हीन बहन का विवाह किसी साधारण व्यक्ति से कर दे। उसने एक लड़का पसन्द कर लिया था, पर वह यह जानता था कि उस लड़के के साथ बहन का विवाह करने के लिए उसे पाँच हज़ार रुपयों की आवश्यकता होगी।

"उसने सेठ के प्रस्ताव को इसी शर्त पर स्वीकार किया कि काम को सफलतापूर्वक चला देने के बाद वह सेठ जी से पाँच हज़ार रुपये ले लेगा। सेठजी ने उसकी इस शर्त को सहर्ष स्वीकार कर लिया। सब बातें निश्चित होने के बाद हरिदास अपनी बुआ के पास गया। वहाँ उसने बुआ को सब बातें बतला दीं। स्थिति को समझकर बुआ ने भी अनुमति दे दी। केवल विमला रोने लगी। उसको किसी तरह समझा-बुझा और सान्त्वना देकर हरिदास वर्मा चला गया।

विमला बड़ी सुन्दर लड़की थी। अल्प अवस्था में ही माता और पिता दोनों के स्नेह से वह वञ्चित हो गई थी। परन्तु उसके भाई ने कभी इस बात का अनुभव नहीं होने दिया कि वह मातृ-पितृ-हीन है। किसी भी सम्पन्न घर की लड़की का जैसा लालन-पालन हो सकता है वैसा ही लालन-पालन उसका हुआ। उसे कभी किसी वस्तु का अभाव ही नहीं हुआ। गाँव में रहकर जितनी शिक्षा किसी कन्या को दी जा सकती थी, उतनी अच्छी शिक्षा उसे मिली। उसके रूप, शील और स्वभाव की सभी प्रशंसा करते थे। यह भी पत्र के द्वारा प्रायः निश्चित हो चुका था कि उसका विवाह बिलासपुर के एक उच्चकुल-सम्भूत

शिक्षित नवयुवक से होगा। वह युवक इलाहाबाद में उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहा था। उसका नाम था हरिमोहन।

तीन वर्ष व्यतीत हो गए। विमला सोलह वर्ष की हो गई। उसकी बुआ को उसके विवाह की चिन्ता हुई। उसने हरिदास को पत्र लिखा। हरिदास ने भी अपने सेठ से अनुमति माँगी। सेठजी उसकी सेवा से सन्तुष्ट थे। उनका कारखाना अच्छी तरह चल रहा था। उन्होंने पाँच हजार रुपया देना स्वीकार किया। सेठजी का पत्र पाकर हरिदास घर लौटने की तैयारी करने लगा।

"मनुष्य के जीवन में न जाने कौन अदृष्ट शक्ति काम करती है। जिसके कारण जो बात हम लोग कभी सोचते तक नहीं, वही हो जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्य का सारा जीवन विधाता के इङ्गित पर ही चलता है। नवागाँव में एक जमींदार रहते थे। उनकी उम्र थी पैंतालीस वर्ष की। उन्हें अपनी प्रभुता का गर्व था, धर्म का अहङ्कार था और शक्ति का दम्भ। उनके समान कूट व्यक्ति कुछ ही होंगे। आस-पास के सभी लोग उनसे त्रस्त थे। सभी उनका नाम सुनकर काँप जाते थे। शराब वे पीते थे और दिन-रात विलासिता में डूबे रहते थे। आश्चर्य की बात तो यह थी कि सभी दुर्गुणों से युक्त रहकर भी जमींदार साहब अच्छे-अच्छे लोगों के आदरपात्र थे। बड़े-बड़े नगरों तक में उनकी प्रतिष्ठा थी। बड़े-बड़े लोग भी उनका सम्मान करते थे। अकस्मात् विधि की प्रेरणा से उनकी स्त्री का देहान्त हो गया और तेरह दिन के बाद ही जमींदार साहब ने यह निश्चय किया कि वे दूसरा विवाह करेंगे। सजातीय लड़कियों की खोज होने लगी। सहसा उनकी दृष्टि अपने ही गाँव की लड़की विमला पर पड़ी। विमला उनके जाति की थी। जमींदार उसके रूप पर मुग्ध हो गये। उन्होंने तुरन्त एक ब्राह्मण को

विमला की बुआ के पास भेजा। उसका परिणाम वही हुआ जो होना चाहिए।"

यहाँ तक कहकर कुसुम रुक गई। तारा और कमला ने बड़ी अधीरता से पूछा—"तो क्या विमला का विवाह उसी अत्याचारी जमींदार के साथ हो गया?" कुसुम कहने लगी—"नहीं बहन, यह साधारण घटना नहीं है। संसार में अत्याचार और अन्याय होते ही हैं। उन अत्याचारों और अन्यायों का न्याय पृथ्वी के न्यायालय में नहीं होता। भगवान् जानें वे किस लोक में उन पर विचार करते हैं, और न जाने वे क्या निर्णय करते हैं। पृथ्वी पर तो प्रायः अधर्म और अन्याय की ही विजय होती है।"

तारा ने पूछा—"उसके बाद क्या हुआ? बुआ ने जमींदार को क्या उत्तर दिया?"

कुसुम कहने लगी—"बुआ ने जमींदार के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। उसने ब्राह्मण को स्पष्ट शब्दों में बतला दिया कि विमला का विवाह दूसरी जगह निश्चित हो गया है और कुछ ही दिनों के बाद उसके भाई के आ जाने के बाद वह शुभ कार्य सम्पन्न हो जावेगा। ब्राह्मण ने जब जमींदार को यह बात सुनाई, तब वे क्रोध से जल उठे। उनके तीन मुसाहिब मित्र थे। उनसे उन्होंने अपनी इच्छा प्रकट की। तीनों ने यह राय दी कि उसी लड़की से उनका विवाह होना चाहिए। जमींदार की ओर से बुआ को तरह-तरह के प्रलोभन दिये गये। उसके बाद उसे डर दिखाया गया। परन्तु वह किसी प्रकार राजी न हुई। तब जमींदार ने यह निश्चय किया कि जबर्दस्ती उस लड़की को पकड़कर हम घर में ले आवें और उसके साथ विवाह कर लें। गाँव में ऐसा कोई नहीं था जो उनका विरोध कर सकता।

दूसरे दिन गाँव में कितने ही घरों में जमींदार की ओर से निमन्त्रण दिया गया। विमला के घर भी निमन्त्रण पहुँचा।

विमला की बुआ जमींदार के अत्याचारों को जानती थी। पर उसने स्वप्न मे भी यह न सोचा था कि निमन्त्रण के बहाने बुलाकर जमींदार उसे और उसकी विमला को कैद कर लेगा। इसी लिए इच्छा न होने पर भी झगड़ा न बढ़ाने के लिए उसने जमींदार के निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया।

"मकान के भीतर पहुँचते ही दासियों ने उसको और विमला को जमींदार के आदेश के अनुसार, एक पृथक् कमरे में बैठा दिया। इसके बाद उसको सारा रहस्य ज्ञात हो गया। विमला रोने लगी। बुआ ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'बेटी, अधीर मत हो। अगर संसार में कहीं ईश्वर है तो वह हमारी रक्षा अवश्य करेगा।' उसने विमला को तो किसी तरह समझा लिया, पर वह स्वयं जानती थी कि वह किसी भी प्रकार जमींदार के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकती।"

"उसी दिन हरिदास जहाज से कलकत्ता पहुँचा। उसके हृदय मे बड़ी उमङ्ग थी, बड़ा उल्लास था। अपने सेठ से वह पाँच हजार रुपये पा गया था। आवश्यक गहने और कपड़े खरीदकर वह बड़ी निश्चिन्तता से बाजार में घूम रहा था। सहसा अपने ही गाँव के एक व्यक्ति से उसकी भेंट हो गई। उससे उसे जमींदार की करतूत ज्ञात हुई। सब सुनकर वह क्षण भर स्तब्ध हो गया। कलकत्ते से नवागाँव काफी दूर था। कुछ देर तक वह खड़ा खड़ा सोचता रहा। इसके बाद वह मेरे भाई गोपाल के पास पहुँचा। गोपाल ने तुरन्त उसे अपनी मोटर में बैठाया और दोनों नवागाँव की ओर रवाना हुए।

"कैसे वह लम्बी यात्रा समाप्त हुई यह बताने की आवश्यकता नहीं। वे लोग दस बजे रात को नवागाँव पहुँच गये। दोनों सीधे जमींदार के कमरे में घुस गये। जमींदार अपने तीनों मुसाहिबों के साथ बैठा शराब पी रहा था। इन दोनों को देखते

ही वे उठ खड़े हुए। हरिदास ने जमींदार का हाथ पकड़कर कहा—'अभी मेरी बहन और बुआ को घर से बाहर कर।' जमींदार ने उत्तर में उसको गालियाँ दीं। उसने फिर जमींदार से कहा—'सुन, तू चुपचाप मेरी बहन और बुआ को घर से बाहर कर दे नहीं तो ठीक नहीं होगा।' 'नहीं तो क्या करेगा साले' कहकर जमींदार उस पर झपट पड़ा और उसके मुसाहिब भी उस पर झपटे। उसने जेब से पिस्तौल निकालकर एक ही गोली से जमींदार का काम तमाम कर दिया। दूसरा मुसाहिब जो उस पर झपटा था वह भी गोली खाकर धराशायी हुआ। तीसरा डरकर भागने लगा। हरिदास ने पकड़कर कहा—"चल, जहाँ मेरी बहन और बुआ है वहीं मुझे ले चल।' काँपता हुआ वन आगे आगे गया और हरिदास पीछे पीछे गये। थोड़ी देर में वह अपनी बहन और बुआ को लेकर लौटा। इसके बाद सब मोटर में बैठकर बसन्तपुर आये। मैं भी उस समय वहीं थी। विमला और उसकी बुआ को किसी बात का पता न था।"

कहकर कुसुम क्षण भर रुक गई। तारा अधीर होकर कहने लगी—"बहन, आगे क्या हुआ जल्दी बताओ।"

कुसुम ने बड़ी गम्भीरता से कहा—"बहन, ठहर! मेरा गला रुँध सा गया है।" इसके बाद वह पानी पीकर फिर कहने लगी—"हरिदास ने स्वयं आकर पुलिस-स्टेशन में सारी बातें बतला दीं। मुकद्दमा चला पर उसे प्राणदण्ड नहीं हुआ। उसे काले पानी की सजा हुई और वहीं उसकी मृत्यु।"

तारा ने पूछा—और विमला?

कुसुम ने कहा—विमला का विवाह उसी युवक से हुआ। वह अब इलाहाबाद में है।

इसके बाद सब चुप हो गईं। रात्रि के उस निविड़ अन्धकार में, उस घोर निःस्तब्धता में, उन्हें ऐसा जान पड़ा मानों वे इस

लोक में नहीं किसी अन्य लोक मे पहुँच गई हैं। रह-रहकर विद्युत् चमक उठती थी। रह-रहकर बादल गरज उठता था। रह-रहकर पवन के प्रचण्ड झोंके दरवाजे पर आघात करते थे। पर उन तीनों मे से किसी का ध्यान इनकी ओर नहीं गया। वे न जाने किस चिन्ता मे डूब गईं, न जाने किस विचार-स्रोत मे निमग्न हो गईं।

—

कुञ्जविहारी

उस दिन कुञ्जविहारी की मृत्यु की खबर पाकर मैं क्षण भर अवाक् रह गया। किसी भी तरुण की आकस्मिक मृत्यु का समाचार सुनकर हृदय पर आघात होता है। साधारणतया हम लोग यही समझते हैं कि बालक से युवक, युवक से प्रौढ़ और प्रौढ़ से वृद्ध होकर मनुष्य अपने जीवन का उपभोग कर मृत्यु को प्राप्त होता है। मृत्यु कोई असाधारण घटना नहीं है। यह जीवन नश्वर ही है। किन्तु तरुणावस्था में ही जीवन का नष्ट हो जाना बड़ा दुखद हो जाता है। यह सच है कि जीवन की गरिमा सभी को उपलब्ध नहीं होती। अधिकांश लोग जन्म से लेकर मृत्यु तक क्षुद्रता में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। संसार में सफलता की जो कसौटी मानी गई है उस पर कसे जाने से कुछ ही लोग सफल माने जा सकते हैं। अधिकांश व्यक्ति क्षुद्र कामों में ही निरत रहकर, कष्ट, अपमान और व्यथा सहकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। जीवन में सफलता के जो सोपान माने गये हैं उन पर चढ़ने का भी वे प्रयास नहीं करते। साधारण स्थिति में जन्म लेकर जो अपने दृढ़ सङ्कल्प, अदम्य उत्साह, असीम धैर्य और अनवरत परिश्रम के द्वारा गौरव के उच्च शिखर पर पहुँच जाते हैं वे असाधारण व्यक्ति होते हैं। वे प्रतिकूल स्थिति को भी अनुकूल बना लेते हैं। वे विपत्तियों से सहिष्णुता का गुण प्राप्त करते हैं। पर सभी लोगों के लिए यह बात नहीं कही जा सकती। कितने ही लोग ऐसे होते हैं जिनमें बुद्धि की विलक्षणता और असाधारण क्षमता रहती है। परन्तु कोई अदृश्य शक्ति उनके जीवन का कुछ ऐसा विधान कर देती है कि उनकी असाधा

रणता ही उनको कृतकार्य नहीं होने देती। कुञ्जविहारी ऐसे ही व्यक्तियों में से एक था। जब मैंने यह सुना कि उसने आत्महत्या की है तब मुझे विशेष आश्चर्य नहीं हुआ। कुञ्जविहारी ने कोई भी काम साधारण युवक की तरह कभी नहीं किया। जैसा असाधारण उसका जीवन था वैसी ही असाधारण उसकी मृत्यु हुई। मेरे लिए जैसा रहस्यमय उसका जीवन था वैसी ही रहस्यमय उसकी यह मृत्यु थी। जब उसके जीवनकाल में ही मैं यह नहीं समझ सका कि उसने कब, किन भावों से प्रेरित होकर कोई काम किया, तब यह आज कैसे जान सकता हूँ कि किन भावों से प्रेरित होकर उसने तरुणावस्था मे ही अपने जीवन को, तुच्छ समझकर, त्याग दिया। अब यह कौन बतला सकता है कि उसने किसमें अपने जीवन की सफलता या विफलता समझी। जीवन का मोह इतना प्रबल होता है कि कितने ही लोग दैन्य, अपयश और शारीरिक तथा मानसिक यन्त्रणा सहकर भी उसे नहीं छोड़ सकते। तब उसी ने सहर्ष मृत्यु को कैसे आलिङ्गन कर लिया।

जब मैं राजनाँदगाँव के हाईस्कूल में मास्टर था तब वह वहीं पढ़ता था। उस पर मेरा विशेष स्नेह हो गया था। इसी से स्कूल छोड़ देने के बाद भी वह मेरा सहचर बना रहा। यह सच है कि वह मेरे लिए सदैव अज्ञात और अपरिचित ही रहा। उसके कितने ही कार्यों से विस्मित होकर मैंने उसके सच्चे भाव जानने की चेष्टा की पर मै उन्हे कभी नहीं जान सका। सच तो यह है कि जो लोग हमारे बिलकुल पास रहते हैं वही हमारे लिए सबसे अधिक अज्ञेय हो जाते है। ऐसा जान पड़ता है कि वे सदैव सतर्क रहते है कि कोई उनका समीपवर्ती उन्हें ठीक-ठीक न जान-पहचान ले। यही कारण है कि भाई-भाई, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य ही एक दूसरे के प्रति अज्ञान बना रहता है। हम ऐसे परिचित

स्वजनों और गुरुजनों से आदर और स्नेह ही चाहते हैं, इसी से उनके समक्ष हम अपनी दुर्बलता प्रकट नहीं कर सकते। अपने हृदय की बात हम अपने समवयस्क मित्र से भले ही कह दें किन्तु अपने बन्धु-बान्धवों या गुरुजनों से नहीं कह सकते। कौन भाई अपने भाई से या कौन शिष्य अपने गुरु से अपने अंतःस्थित सच्चे भावों को व्यक्त करने का साहस कर सकता है। भाई-भाई में गुरु-शिष्य में मैत्री नहीं हो सकती। मैत्री के लिए बाहर का ही कोई व्यक्ति उपयुक्त होता है। ऐसा व्यक्ति हमारे आदर का पात्र नहीं होता, उसे हम बड़ा नहीं समझते, उसे हम मान भी नहीं देते, उसे हम केवल अपना लेते हैं। तभी उस पर हमारा स्नेह होता है, तभी उस पर हम विश्वास करते हैं। स्नेह और विश्वास के लिए गौरव और आदर दोनों घातक होते हैं। उनमें एक आशङ्का रहती है, उनमें एक भय रहता है, एक सङ्कोच रहता है। सच्ची मैत्री में ये भाव सम्भव नहीं। यही कारण है कि कितने ही वर्षों तक कुञ्जविहारी के साथ रहकर भी मैं उसे नहीं पहचान सका। उसका आदरपात्र और श्रद्धाभाजन होकर भी मैं कभी उसका विश्वासपात्र नहीं हो सका।

जब कुञ्जविहारी छात्र था तभी उसकी असाधारण प्रतिभा देखकर मैं उसकी योग्यता पर मुग्ध हो गया था। जब कभी वह मेरी इच्छा के विरुद्ध कोई काम करता था तब मैं उसे समझाता था, धमकाता था और सभी प्रकार के उपाय करता था जिससे वह अन्य अच्छे छात्रों की तरह एकमात्र विद्याध्ययन में ही निरत रहे। पर मेरे सभी आदेश और उपदेश व्यर्थ हुए। मुझ पर श्रद्धा रखकर भी वह कभी मेरे द्वारा निर्दिष्ट पथ पर नहीं चला। सच तो यह है कि कुञ्जविहारी के समान छात्रों पर किसी भी शिक्षक का प्रभाव नहीं पड़ सकता। शिक्षक उनके पथ-निर्देशक नहीं हो सकते। वे उनके जीवन

पथ में शिला-खण्डों की तरह निश्चेष्ट रहकर केवल माग के प्रदर्शक हो जाते हैं।

इसमे सन्देह नहीं कि कुञ्जविहारी मे प्रतिभा थी, पर प्रतिभा तो ईश्वरप्रदत्त असाधारण बुद्धि है। उसके विकास के लिए असाधारण परिस्थिति भी चाहिए। मैंने यह देखा है कि छात्रावस्था में वही लोग सबसे अधिक सफलता प्राप्त करते हैं जिनमें प्रतिभा का अभाव रहता है। ऐसे छात्र परिश्रम करते हैं, अपने पाठों को याद करते हैं, मास्टरों के अनुशासनों को मानते हैं और कभी किसी काम में अपनी ओर से त्रुटि नहीं करते। उनमें अध्यवसाय रहता है, धैर्य रहता है, संयम रहता है और सहिष्णुता रहती है। उनका जीवन नियमबद्ध रहता है, इसी से क्रमशः उनकी बुद्धि का विकास होता जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि वे सभी परीक्षाओं में सफलतापूर्वक उत्तीर्ण हो जाते हैं, संसार मे प्रविष्ट होने पर ऐसे ही लोग उच्च पद पाकर प्रतिष्ठा और सम्मान के साथ अपना जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु वे कभी असाधारण कार्य नहीं करते। जीवन भर साधारण कार्यों मे व्यस्त रहकर, सुख और ऐश्वर्य का उपभोग कर, वे अपने बाद अपनी कोई भी ऐसी कृति नहीं छोड़ जाते जिनसे वे चिरस्मरणीय बनें। इसके विपरीत जिनमे प्रतिभा होती है उनके सभी कार्य असाधारण और विलक्षण होते हैं। उनका जीवन नियमबद्ध नहीं होता। उनमें एक स्वच्छन्दता रहती है जो उनको उच्छृङ्खल बना देती है। छात्रावस्था में प्रह्लाद की तरह वे अपने गुरुजनों के प्रति विद्रोह कर अपने ही भावों का अनुसरण करते हैं। जब अन्य छात्र अपने पाठों का अध्ययन करते हैं तब वे भगवद्भक्ति या देश-सेवा या जाति-चिन्ता मे लीन रहते हैं। गुरुजनों का अभिवादन करते समय वे हरे कृष्ण या वन्दे मातरम् कहकर जगत्-गुरु या जन्म-भूमि की वन्दना करते हैं। गुरुजनों का

कोई भी प्रभाव उन पर नहीं पड़ता। वे अपने लिए एक नये ही पथ का निर्माण कर लेते हैं। संसार का कोई भी प्रलोभन उन्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकता। यश और अपयश दोनों को तिरस्कृत कर वे निर्द्वन्द्व होकर अपनी ही प्रवृत्तियो का अनुसरण करते हैं। साधारण जीवन से उन्हें विरक्ति होती है। निर्दिष्ट कार्य-क्रम से उन्हें असन्तोष होता है। संसार की प्रचलित नीति से उन्हें क्रोध होता है। विद्रोह उनकी आत्मा में रहता है। उनमें अत्यधिक उदारता रहती है, अत्यधिक सहिष्णुता रहती है और अत्यधिक साहस रहता है। यही कारण है कि वे निश्शङ्क संसार के विरुद्ध खड़े हो जाते हैं। संसार जिसे स्पृहणीय समझता है उसे वे तुच्छ समझकर छोड़ देते हैं और ससार जिसको नीच समझकर छोड़ देता है उसे वे सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। यही सब भाव मैंने कुञ्जविहारी में भी पाये।

कुञ्जविहारी के पिता सुधारक हैं। उन्होंने छत्तीसगढ़ में ब्राह्मणों की एक सभा कर ब्राह्मण-समाज में सुधार प्रचलित करने का प्रयत्न किया। कुञ्जविहारी ने ब्राह्मणत्व को ही तिरस्करणीय समझा। उसने ब्राह्मणत्व के आचारों को सबसे पहले त्याज्य समझा। वह किसी के भी घर में खा लेता था। यही नहीं, जो समाज में नीच समझे जाते हैं उन्हीं से उसने सबसे पहले मेल किया। विवाह को धर्म का बन्धन मानकर हिन्दू-समाज की वैवाहिक व्यवस्था में जो दोष आ गये हैं उनको दूर करने के लिए कितने ही सुधारक प्रयत्न कर रहे हैं। कुञ्जविहारी विवाह के बन्धन पर ही कुठाराघात करना चाहता था। धर्म के नाम से जो उपासना होती है उसे भी वह मिथ्या समझता था। इमर्सन की तरह उसका भी यह विश्वास था कि धर्म स्वभाव के अनुकूल होना चाहिए। यदि उसका मन शैतान का अनुवर्ती है तो उसी के पथ को स्वीकार करने से उसका कल्याण हो सकता है।

कुञ्जविहारी मे जो दोष थे वे सभी उसकी अवस्था के अनुकूल थे। तरुणावस्था में सभी के लिए यह संसार कौतुकागार रहता है यथार्थ जगत् की कठोरता का उन्हे अनुभव नहीं रहता। नवीनता और विलक्षणता मे ही उन्हें आनन्द आता है। उनकी समझ मे संसार का यह जीवन-नाटक उनके मनोविनोद के लिए खेला जाता है। जीवन और मृत्यु की सभी घटनाएँ उनके लिए कौतूहलप्रद होती हैं। अपनी महत्त्वाकांक्षा को अपनी योग्यता समझकर उन्हे अपनी क्षमता पर जरा भी सन्देह नहीं हो सकता। अपनो से बड़ो के प्रति श्रद्धा रखकर भी यथार्थ में उनके उपदेशो और शासनो से उन्हे विरक्ति होती है। अपने गुरुजनो से वे प्रशसा ही चाहते हैं। अपने विश्वास की दृढ़ता के कारण वे अपने कार्यों मे किसी प्रकार की वाधा नहीं सह सकते। वर्तमान युग में स्वतन्त्रता की जो शिक्षा उन्होने पाश्चात्य साहित्य से प्राप्त की है उसके कारण वे उच्छृङ्खलता को स्वतन्त्रता समझ लेते है। उन्हे अपनी इच्छा के अनुसार अधिकार न मिलने पर एक तीव्र असन्तोष होता है। कुञ्जविहारी की कविताओ मे असन्तोष और विद्रोह की यही भावना विद्यमान है। वह उपदेश नहीं चाहता था, वह चाहता था कि लोग उसका साथ दें। यदि किसी को शराव पीने से ही शान्ति मिलती है तो उसकी निन्दा क्यो की जाय? यदि कोई दुराचार मे प्रवृत्त है तो उससे घृणा क्यो की जाय? उसने अपनी एक कविता में भगवान् के विरुद्ध यही भाव व्यक्त किया है। उसने यह स्पष्ट कह दिया है कि भगवान् उसके लिए मर गया है।

इसमें सन्देह नहीं कि कुञ्जविहारी को अपनी प्रतिभा के विकास के लिए अनुकूल परिस्थिति नहीं मिली। इंग्लैंड में टामस चैटरटन नामक एक प्रतिभाशाली युवक था। उसने टामस रोले नामक एक प्राचीन कवि के नाम से स्वय एक काव्य-ग्रन्थ की

रचना की। जब वह प्रकाशित हुआ तब कितने ही विज्ञों को बड़ा आश्चर्य हुआ। पर अन्त में एक विज्ञ ने उसकी सत्यता जान ली और उसके उस कपट को प्रमाणित कर दिया। उस नवयुवक को इससे इतनी ग्लानि हुई कि १७ वर्ष की अवस्था में ही उसने आत्महत्या कर ली। इस प्रकार एक प्रतिभाशाली युवक के जीवन का दुःखद अन्त हो गया। कुञ्जविहारी की मृत्यु को भी मैं एक ऐसी ही दुर्घटना समझता हूँ। उसमें महत्त्वाकांक्षा थी। वह जीवन की यथार्थ गरिमा प्राप्त करना चाहता था। संसार में साधारण जनों के लिए जो मान स्पृहणीय होता है, जो स्थिति वाञ्छनीय होती है, जो काम गौरवजनक होता है उसमें उसने कोई सार नहीं पाया। शिक्षा के क्षेत्र में उसने कालेज की उच्च शिक्षा को व्यर्थ समझकर स्वेच्छा से छोड़ दिया। साहित्य के क्षेत्र में जिन रचनाओं से लेखक अपना जीवन निर्वाह करते हैं उनसे उसे चिढ़ थी। देश-सेवा के काम में स्वार्थ-सिद्धि, कपट और धूर्तता देखकर उसे घृणा हो गई। अन्त में उसने धर्म का आश्रय लिया। परन्तु उससे उसकी व्याकुलता दूर नहीं हुई। वह अपना धैर्य खो बैठा और कदाचित् इसी कारण ऐहिक जीवन से विरक्त होकर उसने उसको त्याग दिया।

जीवन एक ओर एक विकट संग्राम है और दूसरी ओर रङ्गभूमि का अभिनय है। जीवन-संग्राम में सफलता प्राप्त करने के लिए अपनी क्षमता बढ़ानी पड़ती है। अपनी इस क्षमता-वृद्धि के प्रयास में हमें सभी प्रकार के उपायों का अवलम्बन करना पड़ता है। सभी लोगों की एक सी नीति नहीं होती। संसार में लब्धप्रतिष्ठ लोगों के जीवन में भी धूर्तता और कपट का अभाव नहीं है। इसी लिए सत् और असत् का निर्णय करना बड़ा कठिन हो जाता है। संसार में प्रचलित नीति के विरुद्ध आजकल जो विद्रोह की भावना जाग उठी है उसका भी कारण यही है कि

अभी तक जिसे हम सत् समझते आ रहे हैं उसमे भी हमे एक अन्याय दिखाई दे रहा है। एक ओर आत्मरक्षा का प्रश्न है, दूसरी ओर आत्म-त्याग का आदर्श है। एक ओर शक्ति का प्रभुत्व है और दूसरी ओर सत्य की प्रतिष्ठा है। एक ओर धन की लोलुपता है और दूसरी ओर सेवाव्रत का कष्ट है। जब हम देखते हैं कि सदाचार की मर्यादा का उल्लङ्घन कर और दुर्नीति में लिप्त होकर भी कितने ही श्रीसम्पन्न लोग आजीवन ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं और कितने ही पुण्य-चरित्र सज्जन अत्याचार से पीड़ित हो दुःख ही सहते हैं, तब हमें सदाचार की महिमा पर सन्देह हो जाता है। जब पति-भक्ति और पातिव्रत के नाम से कितनी ही नारियाँ अत्याचार और कष्ट सहती हैं तब उनके पतिदेव उनकी सेवा को अपना धर्म-प्रदत्त अधिकार समझकर स्वच्छन्द बने रहते हैं। उस समय हिन्दू-समाज की यह नीति कैसे अन्यायपूर्ण नहीं प्रतीत होगी? एक जाति अन्य जाति को अपनी क्षमता से पराभूत कर और उसे पद-दलित कर अस्पृश्य तक बना डालती है। एक जाति को दास होकर अन्य जाति की सेवा स्वीकार कर अपमान की वेदना सहनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में यही प्रकट होता है कि छल और कपट सत्य से कहीं अधिक स्पृहणीय हैं, सम्पत्ति सदाचार से कहीं अधिक वांछनीय है और पाशविक शक्ति आत्मबल से कहीं अधिक वर्धनीय है। राजपूतों का शौर्य प्रसिद्ध है। जिस जाति की स्त्रियाँ तक हँसते-हँसते अग्नि में कूदकर प्राण दे सकती हैं उस जाति के शौर्य में सन्देह नहीं किया जा सकता। इतिहास में राजपूत वीरों के पराक्रम की सैकड़ों कथाएँ हैं। ऐसी वीर जाति का पराभव जिन कारणों से हुआ उनमें एक मुख्य कारण है उनकी सुनीति, उनका धर्म-पालन, स्वामि-भक्ति, प्रतिज्ञा-पालन, उदारता, कुलाभि-मान, मर्यादा-पालन और आत्मगौरव। इन्हीं के लिए कितने ही

राजपूत वीरों ने सहर्ष प्राण दे दिये। पर आज उनकी गौरव-गाथा का गान करने पर भी हम उनकी नीति का अनुसरण करना शायद नहीं चाहेंगे।

यह तो स्पष्ट है कि अब नीति का दूसरा ही आदर्श हो गया है। समाज-नीति और राज-नीति दोनों के आदर्श अब परिवर्तित हो गये हैं। जीवन को संग्राम मान लेने पर प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वन्द्विता को स्वीकार करना ही पड़ता है। उस समय बन्धुत्व और समता का घोर निनाद करने पर भी प्रेम का स्थान संशय ले लेता है। अपने प्रतिद्वन्द्वियों को भयग्रस्त कर हम उन्हें पराभूत करना चाहेंगे। प्रेम और त्याग, सेवा और सहिष्णुता, उदारता और प्रीति आदि की महत्ता तब नहीं रह जाती। प्रभु और भृत्य, शासक और शासित, उच्च और नीच का वैषम्य इतना तीव्र हो जाता है कि सर्वत्र असन्तोष, वैमनस्य, विद्वेष और विद्रोह फैल जाते हैं। आधुनिक युग में विज्ञान की विलक्षण उन्नति ने जिस सभ्यता की सृष्टि की है उसमें क्या मनुष्यों की लोलुपता का अन्त हुआ है, उसमें क्या मनुष्यों की कुप्रवृत्तियों का ह्रास हुआ है, उसमें क्या वासनाओं का दमन हुआ है? उससे तो जीवन की समस्याएँ उग्र ही होती जा रही हैं।

जीवन संग्राम नहीं है, वह लीलामय की लीला है। जो सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं वे स्वेच्छा से एक से अनेक हुए हैं। यह सारी सृष्टि उसी मायामय की माया है। यहाँ विद्वेष मिथ्या, प्रेम सत्य है। हम वहिर्जगत् के वैपरीत्य को ही क्यों स्वीकार करें, हम अन्तर्जगत् की एकता को क्यों नहीं मानते। वहिर्जगत् में यातना है, इसी लिए अन्तर्जगत् में इतनी करुणा है। वहिर्जगत् में हिंसा है, इसी लिए अन्तर्जगत् में प्रेम है, दया है, सहानुभूति है। जिस दिन प्रेम, अहिंसा और सत्य के आधार पर सभ्यता की नव सृष्टि होगी उस दिन सभी वैषम्यों और सभी वैपरीत्यों

को स्वीकार कर हम लोग आत्म-विजय में ही अपने जीवन की चरम सफलता देखेंगे। कुञ्जविहारी का विद्रोह आधुनिक तरुण-समाज का विद्रोह है। संसार के विप्लव ने उनके भी हृदय में विप्लव ला दिया है। वे सर्वत्र विध्वंस ही देख रहे हैं और उसी में वे नव-निर्माण की आशा कर रहे हैं।

कुञ्जविहारी तो अब नहीं रहा। यदि वह रहता तो न जाने क्या करता। सम्भव है, वह कोई बड़ा काम कर जाता। यह भी सम्भव है कि स्थिति की प्रतिकूलता होने पर वह कोई भी काम न करता। पर इसमें सन्देह नहीं कि उसमें असाधारण योग्यता थी, उसमें कवित्व-शक्ति थी, उसमें सृजन-शक्ति थी। मुझे दुःख यही है कि उसके इन गुणों का विकास नहीं हुआ। वह सब लोगों की सारी आशाओं को नष्ट कर अग्नि की एक ज्वाला की तरह क्षण भर प्रदीप्त होकर अपने आप विलीन हो गया।



समाचार-पत्र

हिन्दी में समाचार-पत्रों की विशेष वृद्धि हो रही है। तुम इसे राजनैतिक जागृति, सामाजिक प्रगति और बौद्धिक उन्नति के शुभ चिह्न कहोगे। मैं भी यह स्वीकार करता हूँ कि समाचार द्वारा शिक्षा का प्रचार अवश्य होता है और उनसे जागृति भी होती है। हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में कांग्रेस की नीति और स्वाधीनता के सन्देश को इन्हीं पत्रों ने फैलाया है। परन्तु पत्र प्रकाशन-कार्य की महत्ता और पत्र-सम्पादन-नीति की गुरुता पर-विचार करने से हमें यह स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि हिन्दी-पत्रों का प्रभाव जनता पर उतना नहीं पड़ता जितना पड़ना चाहिए। 'हिन्दी बङ्गवासी', 'श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार' तथा 'भारत-मित्र' ने कितने ही वर्षों से हिन्दी-जगत् की सेवा की है। यह बात नहीं कही जा सकती कि वे लोक-प्रिय नहीं थे या नहीं हैं। मेरी छात्रावस्था में इन्हीं पत्रों के लिए मेरे ग्राम के कितने ही लोग उत्सुक रहते थे और अभी तक कितने ही लोग चाव से उन्हें पढ़ते हैं। पर यह बात सच है कि जनता में उनका जैसा प्रचार है वैसा प्रभाव नहीं है।

उस दिन मैंने इँग्लैण्ड के प्रसिद्ध समाचार-पत्र 'टाइम्स' की कथा पढ़ी थी। देश के राजनैतिक जीवन के विकास में समाचार-पत्र का कितना प्रभाव पड़ता है, यह उसकी कथा से बिलकुल स्पष्ट हो गया। १७८५ में उसका जन्म हुआ और आज तक वह प्रकाशित हो रहा है। आरम्भ से लेकर आज तक वह अपने गौरवपूर्ण स्थान से च्युत नहीं हुआ।

समाचार-पत्र आधुनिक युग की ही वस्तु है। वह ज्ञान के साथ मनोरञ्जन का भी साधन है। उसमें स्वार्थ-सिद्धि के साथ जन-सेवा, देश-सेवा और साहित्य-सेवा भी होती है। उसके द्वारा अर्थ के साथ-साथ कीर्ति भी मिलती है और शक्ति भी आती है, इसी लिए उसके समाचारों का मूल्य भी होता है। जिन पत्रों का कोई प्रभाव नहीं है, उन्हीं के समाचारों का कोई मूल्य नहीं होता।

पाश्चात्य देशों में अर्थ-लाभ की कामना से प्रेरित होकर लोग अख़बार निकालते हैं। वे अख़बारों के प्रकाशन को व्यवसाय की दृष्टि से देखते हैं। कोई भी व्यवसाय हो, उसमें जिस तरह लाभ की आशा रहती है उसी तरह हानि की भी आशङ्का रहती है। इसी लिए जब तक किसी के पास अच्छी पूँजी नहीं होगी तब तक वह पत्र निकालने का साहस नहीं करेगा। हिन्दी में अभी अख़बार कम हैं इसी लिए यहाँ इतनी स्पर्धा भी नहीं है। परन्तु पाश्चात्य देशों में यह बात नहीं है। वहाँ तो सभी पत्र एक दूसरे से बढ़ना चाहते हैं। उनमें एक प्रकार का द्वन्द्व-युद्ध चलता है। इस युद्ध में जिसके पास अर्थ की प्रचुरता होती है वही विजयी होता है। अमरीका के पत्र-सञ्चालकों में विलियम हार्स्ट की बड़ी ख्याति है। उनके समय में न्यूयार्क में 'न्यूयार्क वर्ल्ड' नामक पत्र का सबसे अधिक प्रचार था। हार्स्ट साहब ने वहीं से 'न्यूयार्क जर्नल' नामक पत्र निकाला। वे चाहते थे कि उनका पत्र सबसे बढ़कर रहे। दोनों पत्रों में द्वन्द्व-युद्ध आरम्भ हुआ। हार्स्ट साहब के पास धन का अभाव नहीं था। उन्होंने 'न्यूयार्क वर्ल्ड' के सभी योग्य कर्मचारियों को, अधिक वेतन देकर, अपनी ओर कर लिया। थोड़े ही दिनों में उनका पत्र अमरीका के सब पत्रों से श्रेष्ठ हो गया। जहाँ इस तरह का सङ्घर्ष होता है वहाँ किसी पत्र का सञ्चालन करना सहज नहीं है। इसमें बड़ी बड़ी

कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जनता की रुचि, पत्र की नीति, क़ानूनों का प्रतिबन्ध, सभी बातों का ध्यान रखना पड़ता है। अमरीका में तो पत्र-सम्पादक मौक़ा पड़ने पर बड़ी धूर्तता से काम लेते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि सम्पादक को धूर्त ही होना चाहिए। पर इसमें सन्देह नहीं कि यदि वह व्यवहार-कुशल नहीं हुआ तो विद्वान् होने पर भी उसे अपने काम में सफलता मिलने की नहीं।

समाचार निकालने की प्रथा नवीन नहीं है। कहा जाता है कि चीन में समाचार-पत्र का जन्म हुआ। पहले-पहल वहीं सन् ६१९ में उसका प्रचार हुआ। पेकिन-गज़ट संसार के सब पत्रों में पुराना है। परन्तु आजकल समाचार-पत्रों का मान और प्रचार जितना पाश्चात्य देशों में है उतना और कहीं नहीं। १९ वीं शताब्दी के मध्यकाल से वहाँ सामयिक पत्रों की उन्नति हुई। तब से आज तक उनकी उन्नति ही होती आ रही है। १८९० में लन्दन में ६४७ अख़बार निकलते थे। १९०० में उनकी संख्या १२२६ हो गई। अमरीका तो अख़बारों का घर है। आजकल सबसे अधिक पत्र वहीं निकलते हैं। एक बार किसी ने हिसाब लगाकर बतलाया था कि वहाँ कोई १२००० अख़बारों का प्रकाशन होता है। साहित्य, विज्ञान, दर्शन और कला-कौशल की भिन्न-भिन्न शाखाओं के पत्र अलग ही निकलते हैं।

इन पत्रों की बिक्री भी बेहद होती है। अँगरेज़ी में एक पियर्सन्स मेगज़ीन है। उसके ग्राहकों की संख्या पाँच लाख से ऊपर है। कई पत्र ऐसे हैं जिनके पढ़नेवाले दस दस बारह-बारह लाख हैं। ग्राहकों से इनकी जो आमदनी है वह तो है ही, विज्ञापनों से भी इनको बड़ा लाभ होता है। वहाँ शायद ही ऐसा कोई व्यापारी निकले जो विज्ञापन न देता हो। कोई-कोई तो प्रतिवर्ष विज्ञापनों में लाखों रुपये ख़र्च कर देते हैं। जिन पत्रों

की ऐसी आमदनी है उनका खर्च भी वैसा ही है। लेखकों को वे पुरस्कार भी ख़ूब देते हैं।

समाचार-पत्रों का दाम जहाँ तक होता है, कम रक्खा जाता है जिससे ग़रीब-अमीर सभी पढ़ सकें। कम दाम रखने से ग्राहकों की वृद्धि होती है और ग्राहकों की वृद्धि से विज्ञापन भी खूब आते हैं। इससे पत्र-सञ्चालकों को कम दाम रखने पर भी खूब लाभ होता है। अमरीका में सन् १८३३ तक कोई भी सस्ता पत्र नहीं था। साधारणतः पत्रों का मूल्य छः सेंट होता है। किसी भी पत्र की ५००० कापियों से अधिक नहीं निकलती थीं। सबसे पहले न्यूयार्क में मार्निंग पोस्ट नामक पत्र का मूल्य दो सेंट रक्खा गया। कुछ दिनों के बाद उसका मूल्य घटाकर एक सेंट कर दिया गया। पर वह पत्र अधिक दिनों तक चला नहीं। इसके बाद बेंजमिन एच० डे साहब ने न्यूयार्क-सन नामक पत्र निकाला। उसका दाम एक सेंट रक्खा गया। उसे देखकर मार्निंग हेरेल्ड नामक एक दूसरा पत्र भी उसी मूल्य पर निकलने लगा। दोनों पत्रों में ख़ूब चढ़ाबढ़ी हुई। थोड़े ही दिनों के बाद तीन पत्र और भी प्रकाशित हुए। सभी का मूल्य एक सेंट रक्खा गया। १९०२ में सैकड़ों पत्र एक सेंट पर बिकने लगे। इसी से वहाँ अखबार पढ़नेवालों की संख्या बढ़ने लगी। अमरीका में एक साधारण गृहस्थ के यहाँ भी दो-तीन दैनिक, पाँच-छः साप्ताहिक और दस-पन्द्रह मासिक पत्र आते होंगे। इतने पत्र हमारे देश में अच्छे-अच्छे वाचनालयों में ही आते होंगे। अमरीका में लोग सम्पादकीय लेखों पर ध्यान नहीं देते। वहाँ जनता पर समाचारों का ही अधिक प्रभाव पड़ता है। इसी लिए समाचारों का संग्रह करने में रिपोर्टरों को ख़ूब मिहनत करनी पड़ती है। आराम से बैठकर वहाँ लेख बहुत कम लिखे जाते हैं।

अख़बार पढ़नेवाले सभी शिक्षित नहीं होते। आजकल पाश्चात्य देशों में अधिकांश अल्प शिक्षित होते हैं। इसी लिए अख़बारों की सम्पादन-शैली में बड़ा परिवर्तन हो गया है। सामयिक पत्रों की सफलता उनकी लोकप्रियता पर निर्भर है। उनमें ऐसे भी विषय हों जो सर्वसाधारण को रुचिकर हों। इसी लिए सम्पादक भाषा के सौष्ठव और विचारों की गम्भीरता पर ध्यान नहीं देते, सरल भाषा में मनोरञ्जक विषयों की ही चर्चा अधिक रहती है। खेल-कूद, हँसी-दिल्लगी और नाच-तमाशों पर सभी पत्रों में कुछ न कुछ अवश्य लिखा जाता है। इसका एक कारण और भी है। पाश्चात्य देशों में ज्ञान-वृद्धि के लिए कुछ ही लोग अख़बार पढ़ते होंगे। वहाँ तो ब्रेकफ़ास्ट के समय मार्निंग पेपर खोला जाता है। यदि उनमें उच्च श्रेणी के लेख हों तो उस समय उसे पढ़ने का कष्ट कोई स्वीकार नहीं करेगा। यही कारण है कि यहाँ विषयों की रोचकता पर अधिक ख़याल किया जाता है। यह बात नहीं कि उनमें विज्ञान, पुरातत्त्व आदि विषयों पर लेख नहीं निकलते। नहीं, ऐसे भी लेख निकलते हैं। पर वे ऐसी सरस भाषा में लिखे जाते हैं कि उनसे भी मनोरञ्जन ही अधिक होता है। कुछ थोथी बातें भी निकलती हैं। पर वे लोगों के कौतूहल की निवृत्ति के लिए लिखी जाती हैं। साधारण लोग बड़ों की छोटी बातें जानने के लिए भी उत्सुक रहते हैं। महारानी मेरी किन उपन्यासों को पढ़ा करती हैं, प्रिंस आव वेल्स कौन सा साबुन लगाते हैं, कैसर किस तरह बातचीत करते हैं इस तरह की बातें लोग बड़ी ख़ुशी से सुनते हैं। यदि कोई आदमी प्रसिद्ध हुआ—चाहे उसकी प्रसिद्धि विद्या में हो, राजनीति में हो, नाचने-गाने में हो, अथवा और कोई काम करने में ही हो, तो उसके विषय में छोटी-छोटी बातें तक लिखी जाती हैं।

उसकी बातचीत, रहन-सहन, रूप-रङ्ग, हाव-भाव, कोई भी बात छूटने नहीं पाती।

अखबारों का काम है समाचार संग्रह करना। सभी पत्र-सम्पादक इस बात की कोशिश करते हैं कि सबसे पहले उनके ही पत्र में समाचार निकले। तारो से तो खबरें वे मँगाते ही हैं पर इसके लिए उनके संवाददाता और रिपोर्टर भी नियुक्त रहते हैं। जहाँ कोई नई बात हुई कि उन्होने तुरन्त ही उस पर टीका-टिप्पणी लिखकर सम्पादक के पास भेज दी। विदेशों में भी उनके संवाददाता रहते है। वे अपने देशों की महत्त्वपूर्ण घटनाओ की आलोचना किया करते हैं। ऐसे संवाददाताओ में 'टाइम्स' के पेरिस के संवाददाता एम० डी० व्लोविट्ज़ साहब की बड़ी ख्याति है। इनके सिवा खास-खास मौकों पर समाचार संग्रह करने के लिए अखबारवाले अपना प्रतिनिधि भी भेजते हैं। ये प्रतिनिधि बड़े-बड़े नेताओ से मिलकर उनकी राय लिया करते हैं और फिर उन्हे अपने पत्रों मे प्रकाशित किया करते हैं।

प्रारम्भिक अवस्था में केवल देश-विदेश के समाचार ही छापे जाते थे। पर कुछ समय के ही बाद समाचार-पत्रो के सञ्चालकों ने देखा कि समाचार-पत्रों के द्वारा जनता में बड़ी सुगमता और शीघ्रता से किसी भी बात का प्रचार किया जा सकता है। ज्यों-ज्यों जनता के अधिकार बढ़ने लगे त्यों-त्यों समाचार-पत्र की शक्ति और उपयोगिता भी बढ़ने लगी। जिन समाचार-पत्रों का राजनैतिक या सामाजिक महत्त्व रहता है वही उनमें प्रकाशित होते हैं। कहाँ किसके कार्य से देश या जाति की उन्नति मे क्या सुविधा हो रही है, कहाँ राष्ट्र की उन्नति के लिए क्या बाधा हो रही है, लोग कहाँ कैसी भूल कर रहे हैं आदि बातों की चर्चा उनमें गम्भीरतापूर्वक की जाती है। पर उनकी शैली मे सदैव एक आकर्षण रहता है जिससे पाठको का मनोरञ्जन होता है।

वर्तमान युग में रेल, तार और स्टीमर की सुव्यवस्था होने के कारण समाचार-संग्रह करने का कार्य बड़ा ही सरल हो गया है। छापाख़ानों की वृद्धि होने के कारण समाचार-पत्र प्रकाशित करने का भी काम बहुत सरल हो गया है। पार्लमेंट में प्रधान मन्त्री का वक्तव्य अभी पूरा भी नहीं हुआ कि वह पत्रों में छप गया। उन्नत देशो में सवाददाताओ का काम बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। उनमें कितने धैर्य, साहस और क्षमता की आवश्यकता है, यह उनके सवादो से ही प्रकट हो जाता है। उन्हीं के अनुभवो को लेकर पत्रों और डायरी के रूप में कितनी ही अच्छी-अच्छी किताबें भी छपने लगी हैं। उनसे ज्ञान का मार्ग भी ख़ूब विस्तृत हो गया है और ज्ञान की ओर लोगों की अभिरुचि भी बढ़ने लगी है। लोगों की स्वाभाविक ज्ञान-लिप्सा के लिए समाचार-पत्रो मे सप्लीमेंट के रूप मे नये अङ्क निकाले गये है। जनता के अधिकार के साथ उनकी भी उपयोगिता बढ़ती चली जा रही है। समाचार-पत्र अब जनता के प्रतिनिधि माने जाते हैं। वे उनके अधिकारों और हितों की रक्षा करते हैं। इसी से उनका बड़ा प्रभाव पड़ता है।

ससार में समाचारपत्रों का प्रचार के साथ प्रभाव प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है। राजनीति के क्षेत्र में उनकी बड़ी शक्ति है। उस शक्ति की उपेक्षा करने का साहस कोई भी गवर्नमेंट नहीं करेगी। किसी किसी देश में समाचार-पत्रों को यह स्वाधीनता नहीं है कि वे जैसा चाहे लिखें। परन्तु इँग्लैंड मे यह बात नहीं है। वहाँ के पत्र गवर्नमेंट के सभी कामों की तीव्र आलोचना किया करते हैं। गवर्नमेंट को विवश होकर उनकी नीति अपनानी पड़ती है। १८८४ में स्टेड साहब ने इँग्लैंड की जहाजी शक्ति पर कुछ लेख लिखे। उस समय उसकी अच्छी दशा नहीं थी। इन लेखों के कारण वहाँ जल-सेना-विभाग मे सुप्रबन्ध हो गया।

आजकल सभी देशों में प्रजापक्ष का ज़ोर बढ़ रहा है। पार्लियामेंट में प्रजा के प्रतिनिधि होकर जो जाते हैं वे तो जाते ही हैं पर उनसे अधिक प्रभाव अख़बारों का पड़ता है। ये ही जनता के सच्चे प्रतिनिधि समझे जाते हैं। इनसे पार्लियामेंट का घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है। केवल राजनीति में ही इसका प्रभाव नहीं है, समाज पर भी इनका बड़ा भारी प्रभाव है, व्यापार की उन्नति में भी इनका हाथ है।

अख़बारों को एक बड़ी भारी संस्था कहना चाहिए। वे जैसी ख़बरें देती हैं वैसे ही भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का भी प्रचार करती हैं। भिन्न-भिन्न पत्रों की नीति भिन्न-भिन्न है। सभी पत्रों मे एक प्रधान लेख होता है। उसे 'लीडिंग आर्टिकल' या अग्रलेख कहते हैं। उसमें एक विशेष सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है। जो मत उसके विरुद्ध होते हों उनका उसमें खण्डन भी रहता है। जो पत्र जितनी ही निर्भीकता से अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है उसका उतना ही प्रचार बढ़ता है। जनता निर्भीकता को अधिक चाहती है। एक बार इँग्लैंड के किसी पत्र ने किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यह सिद्धान्त उसके विज्ञापनदाताओं में अधिकांश को अभीष्ट न था। इससे उन्होंने उस पत्र में विज्ञापन देना बन्द कर दिया। उन्होंने समझा था कि इससे पत्र की बड़ी भारी अर्थ-हानि होगी और वह अपनी नीति को बदल देगा। परन्तु फल इसका विपरीत ही हुआ। उसका प्रचार बढ़ गया और विज्ञापन भी बढ़ गये।

कहा जाता है कि क्रिमियन युद्ध के समय किसी ने समाचार-पत्र में यह छपाया कि युद्धक्षेत्र में घायलों की अच्छी सेवा-शुश्रूषा नहीं हो रही है। यह समाचार पढ़ते ही लोगों के हृदय में इतना आतङ्क छा गया और साथ ही युद्ध के कर्णधारों पर इतना प्रभाव पड़ा कि तुरन्त ही उसके लिए सुव्यवस्था करनी पड़ी। समाचार-

पत्रों के कारण अब यह सम्भव नहीं है कि कोई भी शासक स्वेच्छाचार से अन्याय कर सके। समाचार-पत्रों द्वारा स्वाधीन देशों में शासन-नीति उच्छृङ्खल नहीं होने पाती। 'टाइम्स' के विरोध से इँग्लैंड में ग्लैडस्टन का 'होमरूल' बिल पास न हो सका। पहले महायुद्ध के प्रारम्भ में एस्क्विथ के विरुद्ध 'टाइम्स' में लेख निकले जिनके कारण प्रधान मन्त्री को अपना पद छोड़ना पड़ा। 'टाइम्स' की निर्भीक आलोचना और निष्पक्ष लेखों का प्रभाव जनता और गवर्नमेंट दोनों पर पड़ा। इसी से सर रावर्ट पील ने उसकी नीति की प्रशंसा की।

समाचार-पत्रों का दूसरा कार्य यह है कि वे जनता को सुशिक्षित बनाते हैं। राजनैतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, साहित्यिक आदि सभी विषयों की चर्चा बराबर करते रहने के कारण समाचार-पत्र लोगों का उन विषयों में न केवल अनुराग ही बढ़ाते हैं बल्कि उनको उचित ज्ञान भी देते हैं। समाचार-पत्रों का नियमपूर्वक पाठ करनेवाला व्यक्ति किसी भी विषय से अनभिज्ञ नहीं रह सकता। उसकी रुचि परिमार्जित होती रहती है। समाचार-पत्रों की उपयोगिता पर अब किसी को सन्देह नहीं रह गया। जन-समूह के विचारों को प्रकट करने का साधन यही है। पर समाचार-पत्रों का उत्तरदायित्व भी अब बहुत बढ़ गया है। शक्ति के साथ उत्तरदायित्व आता ही है। समाचार-पत्र सर्वसाधारण के लिए नेता का काम कर रहे हैं, इसी लिए उन्हें सदैव सर्वसाधारण के कल्याण का विचार कर किसी बात को प्रकाशित करना पड़ता है। मिथ्या-नीति का अवलम्बन करने पर ही समाचार-पत्रों का प्रभाव नहीं पड़ता।

हिन्दी में कई कारणों से समाचार-पत्रों का प्रभाव जनता पर नहीं पड़ता। मेरी तो यह धारणा है कि हिन्दी में मासिक पत्रों का काम जितना अच्छा होता है, उतना साप्ताहिक अथवा दैनिक का

नहीं होता। मुझे भी कुछ समय तक सम्पादन का काम करना पड़ा है। वह एक मासिक-पत्र था। मासिक-पत्रों और समाचार-पत्रो के उद्देश्य मे विभिन्नता रहती है। सामाजिक विषयों की चर्चा करने पर भी मासिक पत्र निर्माण की ओर जितना ध्यान देते हैं, उतना प्रचार की ओर नहीं। इसी से उनके लेखो मे अधिक स्थायित्व रहता है। अँगरेजी के कितने ही स्थायी निबन्धो और कथाओं का भी प्रकाशन पहले मासिक पत्रिकाओ में हुआ है। यह सच है कि मासिक पत्र का आदर्श कुछ ऊँचा रहता है। उसके उच्च आदर्श की रक्षा करना मेरे समान लोगों के लिए साधारण बात नहीं है। इसी से मै सदैव अपनी ओर से यथेष्ट परिश्रम करके भी अपनी अयोग्यता के कारण घबराता रहता था। ज्योंही किसी ने किसी लेख के विरुद्ध कुछ कहा, त्योंही मैंने वह लेख बन्द किया। मैं जानता हूँ कि हर तरह की सुविधा होने पर भी मुझे जो असफलता हुई, उसका एकमात्र कारण मेरी अयोग्यता है। पर इसमे सन्देह नहीं कि हिन्दी के मासिक पत्रो को अधिक सफलता मिली है। 'सरस्वती', 'माधुरी', 'सुधा', 'विशाल भारत' आदि पत्रो द्वारा हिन्दी- साहित्य के नवयुग का निर्माण हुआ है। साप्ताहिक तथा दैनिक समाचार-पत्रों के विषय मे यही बात नहीं कही जा सकती। भाषा की ही दृष्टि से इनमें जो शिथिलता रहती है, वह उपेक्षणीय नहीं है।

वर्त्तमान युग मे कौन कहाँ क्या लिख रहा है, इस पर किसी की दृष्टि नहीं है। क्या मासिक पत्र और क्या साप्ताहिक पत्र, दोनो की इतनी वृद्धि हो गई है कि अब यह सम्भव नहीं है कि हम सभी पत्रो को ध्यानपूर्वक पढ़ सकें। अतएव अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की रचनाओं के प्रति पाठको में भी एक उदासीनता विरक्ति या उपेक्षा का भाव आ गया है। यह द्विवेदीजी का ही युग था कि एक 'अनस्थिरता' शब्द ने ही हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र

में आँधी-सी ला दी थी। अब तो साहित्य का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है कि हम बड़ी से बड़ी भूलों पर भी ध्यान नहीं देते। इसमे सन्देह नहीं कि अब हिन्दी-पत्रों की नीति परिवर्तित हो गई है। पत्रों को लोकप्रिय बनाने की चेष्टा मे हम लोग रुचि को परिष्कृत करने की कोशिश नहीं करते। हम पत्रों से एक क्षणिक उत्तेजना ही चाहते हैं, क्षणिक मनोरञ्जन की ही आशा करते हैं। सिनेमा के गीतो की लोकप्रियता हम अपनी कविताओं में चाहते हैं और उसी की कथाओं की विशेषता हम अपनी कथाओं में रखना चाहते हैं। हम अपने पाठकों की विचार-शक्ति को उत्तेजित करने के लिए यत्न नहीं करना चाहते।

मैं हिन्दी के पत्रो को पढ़ता हूँ और अँगरेजी के भी पत्रों को पढ़ता हूँ। दो-चार को छोड़कर अधिकांश पत्रो मे कितने ही ऐसे वाक्य आते हैं, जिनका अर्थ ही समझने में नहीं आता। कितनी ही ऐसी बातें होती हैं, जो बिलकुल अस्पष्ट होती है। उनके लेखो में प्रामाणिकता नही रहती। उनकी आलोचनाओं में न वह गम्भीरता रहती है और न वह मननशीलता, जिससे पाठक अपने आप उनकी ओर आकृष्ट हो जाता है। संवादों में भी बहुधा उत्तरदायित्व-हीन निन्दा या प्रशंसा रहती है। समाचारों और लेखो मे भी एक नीरसता रहती है, जो पाठकों के लिए विरक्तिजनक होती है। 'शिवशम्भु के चिट्ठे के समान सामयिक विषयों पर लेख-माला समाचार-पत्रो में दुर्लभ है। राजनीतिक लेखो मे अँगरेजी पत्रो की शून्य प्रतिध्वनि रहती है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि हम लोग कम से कम परिश्रम से अधिक से अधिक लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं। क्या प्रकाशक, क्या सम्पादक और क्या लेखक सभी के मन में शायद यही भावना काम करती है। अँगरेजी के पत्र तो शिक्षित जनो के ही पास पहुँचते हैं। उनमें अनर्गल बातें प्रकाशित नहीं हो

सकतीं। हिन्दी के पत्र उन सर्वसाधारण के लिए है, जिनमें शिक्षा का प्रचार नहीं है, इसी लिए उनमें कोई भी बात लिख दी जाती है। लेखकों पर कोई भी उत्तरदायित्व नहीं रहता। उन्हें अपनी योग्यता पर इतना अधिक विश्वास है कि वे जो चाहें, लिख सकते है।

हिन्दी-भाषा-भाषियों में अधिकांश पाठक अल्पशिक्षित होते हैं। जो उच्चशिक्षा-प्राप्त व्यक्ति हैं, वे बहुधा हिन्दी के पत्रों को नहीं पढ़ते। ऐसे लोगों में वही हिन्दी-पत्रों के पाठक होते है, जिन्हे उनसे विशेष अनुराग है और जो स्वयं किसी न किसी रूप मे हिन्दी-साहित्य की सेवा मे संलग्न हैं। पर इन्हीं अल्प-सख्यक शिक्षित पाठकों पर हिन्दी के समाचार-पत्रो का आदर्श निर्भर है। वही लेखक हैं और वही उसके यथार्थ पाठक भी। सर्वसाधारण तटस्थ रहते हैं। यही कारण है कि हिन्दी के पत्रो मे कुछ समय पहले व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध में जो कटुता या व्यङ्गपूर्ण लेख प्रकाशित होते थे, उनका सर्वसाधारण से कोई सम्बन्ध नहीं था। उस समय समालोचना का ढङ्ग भी दूसरा था। भाषा की भूलें भी अक्षम्य थीं। आजकल हिन्दी-पत्रो में हम जो उन्नति और परिष्कार देख रहे हैं, उसमें भी उन्हीं अल्पसंख्यक शिक्षित जनो का प्रभाव है। उन्ही की नीति और रुचि का अनुसरण कर कितनी ही रचनाएँ प्रकाशित होती हैं। जन-समूह अभी तक हिन्दी की इस प्रगति की ओर से उदासीन है। पन्त, निराला, जैनेन्द्र, यशपाल, प्रसाद आदि लेखकों के पाठक अल्पशिक्षित जन ही हैं। इन शिक्षित और अशिक्षित जनो के बीच अभी तक एक बड़ा व्यवधान है। प्रगति के नाम से हिन्दी में जो कुछ लिखा जा रहा है, उसका प्रचार सीमाबद्ध है। हिन्दी के प्राचीन रस-साहित्य की तरह वह केवल अल्पसंख्यक रसिकों के लिए है।

लेखकों के भावों में भी परिवर्त्तन हो गया है। पहले मेरे समान लेखकों में अपने सम्बन्ध में जो एक हीनता या क्षुद्रता का भाव था, वह अब नहीं है। लेखकों में अब एक गौरव का भाव अवश्य आ गया है। पहले अनुवादों या भावानुवादों से ही हिन्दी-साहित्य भरा था, अब मौलिक रचनाएँ प्रकाशित होती हैं। अपनी मौलिक रचनाओं को अगर हम गौरव दें तो यह कोई अनुचित नहीं है। पर सीमा का अतिक्रमण करने से वह छूँछा हो जाता है। लेखक और आलोचक दोनों में विश्वास भी होता है। यही कारण है कि समालोचना में भी गौरव का वही भाव आ गया है। उस दिन एक समाचारपत्र में एक उपन्यास के सम्बन्ध के मैंने यह पढ़ा कि हिन्दी में ही नहीं, विश्व-साहित्य में उनका अक्षय स्थान है। मैंने भी सभी तरह के उपन्यास पढ़े हैं और अभी तक पढ़ता ही हूँ। इसलिए हिन्दी के इन आलोचकों की ऐसी बातें सुनकर मैं तो अवाक् हो जाता हूँ। कुछ समय पहले की बात है। पण्डित भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने मुझे 'मीठी चुटकी' नामक एक उपन्यास दिखाया। उसे पढ़कर मैंने यह कहा कि यह बिलकुल निकृष्ट उपन्यास है, और किसी प्रकार प्रकाशित करने योग्य नहीं है। पर हिन्दी के सभी विज्ञों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है। एक विज्ञ आलोचक ने यहाँ तक कहा कि प्रेमचन्दजी का कोई भी उपन्यास उसके बराबर नहीं है। तब से हिन्दी के किसी उपन्यास पर सम्मति देने का साहस मैंने नहीं किया। मैंने तो कान पकड़ लिये।

कोई ४३ वर्ष पहले 'हिन्दी बङ्गवासी' में एक व्यङ्गचित्र प्रकाशित हुआ था। उसका शीर्षक था 'राजा'। उसके नीचे लिखा था—'इसे राजा कहो भाई, जूता न धोती, यह पगड़ी देखो।' यथार्थ शिक्षा से हीन होने पर भी जब हमें गौरव की पगड़ी मिल जाती है, तब गौरव ही हमारी अक्षमता प्रकट कर देता है।

साधारण स्थिति में अँगरखा और जूता न रहने पर भी हम लोग सिर्फ धोती से काम चला लेते हैं और किसी की दृष्टि हम पर नहीं जाती, परन्तु सिर पर बहुमूल्य पगड़ी बाँध लेने पर वस्त्राभूषण का अभाव क्यों न खटकेगा ? इसी लिए सम्पादक अथवा समालोचक का पद-गौरव मेरे समान लेखकों के लिए तो दुर्वह हो जाता है। एक पाठक की दृष्टि से मैं निस्सङ्कोच तुम्हें जो बात लिख सकता हूँ, वही क्या सम्पादक और समालोचक के रूप में भी लिख सकूँगा ?

पर हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र में यह एक सन्तोषजनक बात है कि हम अपनी इच्छा के अनुसार भी गौरव की कोई पगड़ी स्वयं बाँध सकते हैं। यह कोई आवश्यक नहीं कि हमें यह पगड़ी कोई दूसरा ही दे। यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दी के अधिकांश पत्र अभी जनता के पत्र नहीं कहे जा सकते और न लेखक ही जनता के लेखक समझे जा सकते हैं। दोनों अभी प्रकाशकों की कृपा पर निर्भर हैं। स्वयं प्रकाशक अपनी शक्ति या सम्पत्ति पर निर्भर रहने के कारण जनता के हित की अपेक्षा अपने ही प्रभाव की वृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है। मेरी समझ में तो पत्रों में अभी प्रकाशक की नीति और रुचि की ही प्रधानता रहती है। यही कारण है कि हिन्दी-पत्रों का प्रभाव अभी जनता पर नहीं है।

मेरी कथा

सत्य अनन्त है, ज्ञान अनन्त है और ब्रह्म अनन्त है। उसी तरह मेरा भी अन्त नहीं है। पर जो असीम है, वह किसी सीमा में आबद्ध होकर प्रत्यक्ष होता है। जो महत् है, वह क्षुद्रता को स्वेच्छा से स्वीकार कर लीलामय हो जाता है। जो अन्तहीन ज्ञान है, वह भी मेरा ही क्षुद्र रूप धारण कर आनन्द-रूप और रस-रूप हो जाता है। मैं ग्रन्थ हूँ, ज्ञान का आगार हूँ, विद्या की निधि हूँ, रस का भाण्डार हूँ। मुझसे संसार ज्ञान प्राप्त करता है। मेरे ही कारण मनुष्यों की उन्नति हुई है। यदि मैं न होता, तो मनुष्य और पशु में क्या भेद रहता? जिन लोगों में मेरा प्रचार नहीं है, उनको जाकर देखो। वे अभी तक वन्य-पशुओं की तरह जङ्गलों में भटकते फिरते हैं। उन्हें केवल उदर-पूर्ति की चिन्ता रहती है। ज्ञान का गौरव वे क्या समझें, साहित्य की महिमा वे क्या जानें, विज्ञान की शक्ति का उन्हें क्या पता?

परन्तु तुम मुझे कागजों का बण्डल मत समझो। यह मत समझो कि प्रेस ने मुझे दबा-दबाकर तैयार किया है। प्रेस, कागज़ और स्याही तो जड़ वस्तु हैं, उनमें ज्ञान कहाँ? इसी प्रकार अक्षरों को जोड़नेवाले या प्रेस को चलानेवाले या दुकान में बैठकर मुझे बेचनेवाले मेरे जन्मदाता नहीं हैं। तुम उन्हें भले ही मेरा प्रकाशक मानकर उनकी प्रशंसा करो; पर मुझे तो यथार्थ प्रकाश मिलता है किसी की अन्तर्ज्योति से। मुझे बेचकर जो लोग सम्पत्तिशाली हो गये हैं, वे अपने वैभव का गर्व भले ही करें और तुम लोगों में प्रतिष्ठा और आदर पाकर गौरव के उच्च शिखर पर भले ही बैठ जायँ; पर मैं तो किसी तपस्वी की तपस्या का फल हूँ, मैं

तो किसी ज्ञानी की अनवरत साधना का परिणाम हूँ, मैं तो किसी कवि की उदात्त कल्पना की सृष्टि हूँ, मैं तो किसी विज्ञ के अध्यवसाय की रचना हूँ। मुझमें किसी दूसरे की आत्मा निवास करती है।

देश और काल को अतिक्रमण कर वही आत्मा मुझमे निविष्ट होकर तुम लोगो को अपना दिव्य सन्देश सुनाती है। न जाने कब कुरुक्षेत्र में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया था; पर पुस्तक के रूप में तुम आज भी उनकी वाणी सुन सकते हो। न जाने किस आषाढ़ के प्रथम दिवस मे मेघ के दर्शन कर कालिदास की चित्तवृत्ति अन्यथा हो गई; पर प्रेम और वियोग का जो गान उस दिन उनके अन्तःकरण में उद्भूत हुआ, वह तुम मेरे ही समान पुस्तक में पाओगे। अतीत और वर्त्तमान युग के कितने ही महात्माओ, ज्ञानियो और कवियों के उद्गार तुम हममे सुन लोगे।

मैं आनन्द की सृष्टि हूँ। संसार में जो सुख, जो सौन्दर्य, जो उल्लास, जो शौर्य, जो गौरव, जो वेदना, जो आतङ्क और जो विस्मय है, वही जब किसी के अन्तर्जगत् में जाकर रस-रूप में परिणत हो जाते हैं, तभी मेरी रचना होती है। विश्व की वेदना से करुणार्द्र, संसार के अत्याचार और अन्याय से क्षुब्ध, ज्ञान की महिमा से विस्मित तथा जीवन की सुषमा से पुलकित किसी भी द्रष्टा या स्रष्टा की कृति मैं हूँ। तुम मेरे पृष्ठ पर जो मूल्य देखते हो, वह मेरा मूल्य नहीं है, वह तो किसी व्यवसायी के लाभ और लोभ का सूचक है। यह सच है कि मेरे कितने ही निर्माताओं को अपनी कृतियो के लिए अपरिमित सम्पत्ति प्राप्त हुई है, पर कुछ ऐसे भी हुए है, जो जीवन भर कष्ट सहकर ससार को अमूल्य निधि के रूप में अपनी रचना दे गये हैं। यदि आज आरनाल्ड बेनेट को प्रत्येक शब्द के लिए १६) रुपये मिलते हैं, तो कभी गोल्डस्मिथ को आजीवन दरिद्रता में ही

बराबर साहित्य की सेवा करनी पड़ी है। प्रकाशकों के लिए मैं अवश्य अर्थ सिद्धि का साधन हूँ; पर अपने कर्ताओं के लिए मैं आनन्द का ही साधन हूँ। दुःख में, कष्ट में, विपत्ति में मुझी से उन्हें सान्त्वना मिली है। मेरे ही लिए उन्होंने गर्व किया है। मेरे ही लिए उन्होंने वैभव का तिरस्कार किया है। इसी लिए मैं उनके गौरव की स्मृति हूँ, मैं उनकी वेदना का सहचर हूँ। मेरे इस पृष्ठाङ्कित मूल्य में अन्य व्यवसायों की तरह धूर्त्तता है, छल है, कपट है, स्वार्थसिद्धि है। मेरा यथार्थ मूल्य है कवि की कीर्ति में, ग्रन्थकर्ता के चिरन्तन गौरव में और उस अलौकिक आनन्द में, जिसका उपभोग तुम कर रहे हो।

पर मेरे सभी बान्धव मेरी तरह यही बात दृढ़तापूर्वक नहीं कह सकते। अधिकांश का जीवन अत्यन्त क्षणिक होता है खद्योत की ज्योति की तरह उनमें ज्ञान की अत्यन्त अल्प ज्योति रहती है। पर उनकी क्षणिकता में ही उनकी उपयोगिता है। प्रातःकालीन शीत-बिन्दुओं की तरह उनमें यह शक्ति नहीं रहती कि ज्ञान के तीव्र उत्ताप में वे रह सकें। परन्तु क्षुद्र होने पर भी उनमें रस की तरलता रहती है, उनमे भी प्राणों का आवेग रहता है, आनन्द का उच्छ्वास रहता है, अनन्त स्वर्ग की आभा रहती है। वे भी ज्योतिर्मय की ज्योति से उद्भासित रहते हैं। वे भी क्षण भर कुछ के हृदय को शीतल कर जाते हैं, कुछ को घड़ी भर आर्द्र कर जाते हैं। अपने ही समान क्षुद्र, पददलित, तृणवत् जनो की वे कुछ सेवा कर ही जाते हैं। ऐसो के निर्माता विश्व से अनादृत, तिरस्कृत और विताड़ित भले ही हों, पर यह समझ रक्खो, सभी स्थितियों में उनसे तुम लोगो का उपकार ही होगा, अपकार नहीं।

जब ज्ञान आनन्द का रूप ग्रहण करता है, तभी उससे सत्साहित्य की रचना होती है। जब वह व्यवसाय का रूप धारण

करता है, जब वह लेन-देन, लाभ-हानि का साधन बन जाता है, तब वह साहित्य के तड़ाग में कमल के रूप मे विकसित न होकर मत्स्यों के रूप मे परिणत हो जाता है। तब जो मत्स्यजीवी हैं, वे उन्हे बाजार में बेचकर उदर-पूर्त्ति करते हैं। वहाँ छोटी-बड़ी सभी मछलियो के लिए ग्राहक मिल जाते हैं। उसमें लोक-रुचि की प्रधानता रहती है। उसी से उनका मूल्य निर्दिष्ट होता है। उसी मूल्य मे मत्स्यजीवी की सफलता है। संसार मे सफलता की यही एक कसौटी है। जो व्यक्ति जिस इच्छा से कोई काम करता है, उसकी उस इच्छा की पूर्त्ति हो जाने पर ही वह अपने को सफल अवश्य समझेगा। संसार मे धन की महत्ता है, कीर्त्ति का गौरव है, पदकी प्रतिष्ठा है। कुछ काम धन के लिए किये जाते हैं, कुछ कीर्त्ति के लिए और कुछ पद के लिए। इसके अतिरिक्त कुछ काम ऐसे भी होते है, जो आनन्द के ही लिए किये जाते हैं। धन के लिए जब कोई व्यक्ति प्रयत्न करता है, तब उसे कीर्त्ति, पद या आनन्द की चाह नहीं होती। अर्थ-कष्ट में पड़कर कितने ही बड़े लोगो को ऐसे काम करने पड़ते है, जो न उनके गौरव के वर्धक हैं और न उनकी कीर्त्ति के। इसी प्रकार जो लोग एकमात्र अर्थसिद्धि मे ही अपने जीवन की सफलता समझते हैं, उनके लिए कीर्त्ति या महिमा भी बाधक हो जाती है।

सच पूछो तो मेरे लिए न कीर्ति की महत्ता है, न पद की और न धन की। आज जो कीर्ति, पद और धन का उपभोग कर रहे हैं, वे नहीं रह जायँगे; पर मैं रह जाऊँगा। कालिदास के आश्रयदाता नरेश कहाँ हैं, तुलसीदास के समय का [illegible] कहाँ है! पर मेरे रूप में 'मेघदूत' और 'रामचरित-मानस' तो अब भी है। आज जो छोटे-बड़े लोग सम्पत्ति और प्रभुता के अधिकारी हैं और जिनकी सेवा, प्रशंसा और [illegible] में मेरे ही [illegible] रहता है, वे सभी अपनी सारी प्रभुता और धन को [illegible]

न जाने कहाँ विलीन हो जावेंगे। रह जाऊँगा मैं, क्योंकि मुझी में चिरन्तन आनन्द और गौरव है। तो भी यह सच है कि जीवन-निर्वाह के लिए धन की आवश्यकता होती है। इसी लिए किसी न किसी रूप से प्राय सबको अर्थसिद्धि के लिए कोई काम करना पड़ता है। मेरे निर्माताओं की साहित्य-सेवा में अर्थसिद्धि की भावना है ही नहीं, यह कहना सच नहीं है। पर यह बात भी सच है कि साहित्य द्वारा आनन्द के रूप में मेरे निर्माता स्वयं जो कुछ पा जाते हैं वही उनका यथार्थ पुरस्कार है। बिहारी अपने सात सौ दोहों के लिए सात सौ मुहरें पाकर सन्तुष्ट हो गये। पद्माकर अपने एक-एक अक्षर के लिए लाखों की सम्पत्ति पा गये। फिर भी यह पुरस्कार दूसरों की कृपा पर निर्भर है। इसी प्रकार प्रतिष्ठा और गौरव भी दूसरों की ही कृपा पर है। कोई किसी का मान करे या अपमान, उसे अपनी कृतियों से जो मन स्तुष्टि होती है वही यथार्थ में साहित्य कार्य के लिए प्रेरित करती है। संसार में अपनी विशेष स्थिति में ही कोई मान या गौरव पाता है और विशेष स्थिति में पड़कर उसे अपमान भी सहना पड़ता है और कष्ट भी उठाना पड़ता है। मेरे साहित्य के क्षेत्र में यह कोई चिन्तनीय बात नहीं है। मेरी यथार्थ हत्या तो तब होती है जब तुम स्वयं साहित्य के उच्च आदर्श को छोड़कर उसे क्षणिक मनोविनोद, क्षणिक उपयोगिता अथवा क्षणिक प्रभुता का साधन बना डालते हो, या जब तुम मिथ्या प्रशंसा मिथ्या गौरव, मिथ्या अभिमान से प्रेरित हो साहित्य के क्षेत्र को अपनी स्वार्थसिद्धि का एक साधन समझकर, यश के लिए दल बनाकर परस्पर एक दूसरे की प्रशंसा कर, अपने-अपने विपक्षियों की निन्दा कर उनका उपहास करने लगते हो। साहित्य के सरोवर में भ्रमर [illegible] यह है और ऐसे भेक भी हैं, जो इसके निर्मल जल को गंदला बना डालते हैं। पर मुझे इसकी चिन्ता नहीं है। तुम मेरा आ[illegible]

करो या मत करो; पर यह जान लो: Comrade, this is no book; who touches this, touches a man.

वन्धुवर, मै एक निष्प्राण ग्रन्थ नहीं हूँ। मुझमे एक मनुष्य की आत्मा विद्यमान है। जीवन-सागर का मन्थन कर उसमें वेदना और कष्ट के रूप में जो विष उसने प्राप्त किया, उसे वह स्वयं पी गया, और अमृत के रूप में जो कुछ मिला, वही मुझमें विद्यमान है।